जैनेन्द्र साहित्य [३८]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

नवां भाग

[प्रण और परिणाम, वह रानी, वि-ज्ञान और
अन्य कहानियाँ]

पूर्वोदय प्रकाशन
दिल्ली—६

प्रकाशक :
प्रदीप कुमार
पूर्वोदय प्रकाशन
ऋषि भवन
८ नेताजी सुभाष मार्ग
दिल्ली-६

●

प्रथम संस्करग
फरवरी, १९६४

●

मूल्य :
तीन रुपये पचास नये पैसे

●

मुद्रक :
महेन्द्र आर्ट प्रेस,
गली आर्य समाज, सीताराम बाजार
दिल्ली-६

प्रकाशक की ओर से

'जैनेन्द्र की कहानियाँ' सीरीज़ के अन्तर्गत यह नवाँ भाग पाठकों के हाथों में है। प्रस्तुत संग्रह में प्रण और परिणाम, वह रानी, वि-ज्ञान आदि १२ कहानियाँ हैं।

कहानी और उसके शिल्प, प्रभाव, विधा तथा इतिहास पर भूमिका के रूप में श्री जगदीशचन्द्र गोयल की एक भेंट उद्धृत की जा रही है। उसमें जैनेन्द्रजी ने कहानी पर अपनी निजी अनुभूतियाँ और मान्यताएँ दी हैं। निश्चित ही ये विचार उनकी कहानियों की सूक्ष्म अन्तरंगता को देखने परखने के लिए उजागर प्रकाश का काम दे सकेंगी।

वि-ज्ञान, विचार-शक्ति आदि कतिपय वे कहानियाँ भी इस संग्रह में संकलित हैं जो रूढ़ और बद्ध सामाजिक और 'धार्मिक' मान्यताओं को झकझोरती हैं। इस कारण उनसे विवाद का वातावरण बना और उनके बारे में यत्र-तत्र बहुत चर्चाएँ हुईं। उन चर्चाओं से स्वतः प्रमाणित है कि आलोच्य कहानियों के विचार मर्मस्थ और सक्षम रहे होंगे।

क्रम

कहानी में अपेक्षणीय और उपेक्षणीय

१

प्रश्नकर्ता : जगदीश गोयल

—'नई कहानी' की इन दिनों बड़ी चर्चा है, लेकिन जैनेन्द्र जी, कहानी में नया क्या और पुराना क्या ?

—मुझे चर्चा का पूरा पता नहीं है। कहानी मेरे विचार में नई ही हो सकती है। कारण, घटना जो जगत में घटती है वही समय से बंधी होती और पुरानी पड़ा करती है। कहानी की घटना जागतिक और सामयिक न होकर मानसिक होती है, इसलिए वह सनतान बन जाती है। पाठक के मानस पर पढ़ने के साथ-साथ घटित होते जाने के कारण वह नित-नूतन प्रतीत हो सकती है।

मैं अपने को कहानी लेखक नहीं मानता हूं। यानी वह लेखक जिसे साथ ही कहानी के विधि-विधान का जानना भी आवश्यक होता है। मैं कहानी के शिल्प अथवा कि नए पुराने शिल्प के बारे में बेखबर हूं और रहना चाहता हूं। ज्ञाता होने से मुझे लेखक होने में बाधा पड़ने का भी डर है। ज्ञान सृजन के काम में अक्सर बाधक हुआ करता है। छलकता वह है, जो भरा नहीं है। ज्ञान भर देता है, इतना कि छलकना व्यक्ति-मानस का बन्द हो जाए। कहानी जैसे उस छलकन के फल रूप प्राप्त होती है। इसलिए कहानी के मामले में अज्ञता का मैं अधिक कायल हूं और विज्ञता से सदा भयभीत रहता हूं।

यह मेरी अपनी बात है। उससे आप देखेंगे कि नई-पुरानी की चर्चा या कहानी-सम्बन्धी कोई भी चर्चा मुझ से अलग किनारे ही छूट जाती है, मेरे काम से बहुत संगत नहीं हो पाती।

जो नई के पीछे रहते हैं, या पुरानी के आगे रहना चाहते हैं, ऐसे सब लोग कहानी के बाजार में और उसके मोल-तोल में भटक जा सकते हैं। कहानी की सृष्टि बाजार में नहीं उस निभृत गुहा में है जहाँ पीड़ा अपने लिए स्थान पाकर दबी-दुबकी रहती है।

—जैनेन्द्र जी, एक ओर आपने कहा कि कहानी नई ही हो सकती है, दूसरी ओर यह भी कि वह सनातन है। इसमें क्या विरोधाभास नहीं है ?

—विरोध का आभास ही है, विरोध नहीं।

—सो कैसे ? इससे मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई।

—क्षण सदा ताजा होता है। लेकिन उतर कर वह पीड़ा का बनता है—वह गहन पीड़ा जहाँ दुख और सुख, व्यथा और आनन्द एकमएक हो जाते हैं—तो वही क्षण सनातन हो जाता है। वह कभी नहीं बीतता और शाश्वत बना रहता है। इसी से कहता हूं कि शाश्वत का अस्तित्व नहीं है। है तो क्षण ही शाश्वत है। यानी एक साथ पुरातन और नित-नूतन हो वही सनातन है। कहानी में सनातनता का प्राण चाहिए। बाकी सब ऊपरी है, अदल-बदल सकता है, फैशन है, साज-सज्जा है, पहरावन और प्रेजेन्टेशन है।

—इससे मेरी शंका दूर हुई। आपका आशय यही है न कि सनातन और शाश्वत ही कहानी का प्राण है। जिसे नया कहा जा सकता है वह तो शैली अथवा टेकनीक का नयापन है और ऐसा नयापन आने वाले कल के संदर्भ में पुराना पड़ जाएगा। हैं न ?

—यही तो मुश्किल है कि कहते-कहते क्षण बीत चुकता है और नया ही पुराना बन जाता है। नए के नारे पर फैशन की दुकानें चला करती हैं। क्यों न उन निपुणों का भी कारबार चलता रहे जो बदलते फैशनों पर पलते हैं, बदलते फैशनों की पूंजी से चलते हैं। इस निमित्त यह उचित हो सकता है कि उस चर्चा में थोड़ा समय हम उसी तरह दे दें जैसे क्लब में दे दिया करते हैं। अधिक वहाँ सत्व और सार मान लिया

जाएगा तो प्रदर्शन बढ़ेगा, दर्शन कम होगा। यह लाभ की बात नहीं होगी।

—मूल बात तो यह है कि कहानी का जन्म कहानीकार की पीड़ा में है और पाठक के लिए उसकी सार्थकता इसमें है कि कहानीकार की पीड़ा कहानी द्वारा सम्प्रेषित हो उसके अपने सुख-दुख से जुड़ती है। क्या यही कहानी के आकर्षण का रहस्य नहीं है ?

—हाँ, कहानी द्वारा लेखक की सम्बद्धता अनेक पाठकों से जुड़ती है, यही उसकी सच्ची सार्थकता है। अर्थात् एक अनेक में बंटता, व्याप्त होता है।

—जैनेन्द्र जी, आपने कहा कि ज्ञान कहानी के मार्ग में बाधक है। कहानी छलकने में से निकलती है। आपका दार्शनिक क्या आपके कहानीकार के मार्ग में बाधक नहीं है।

—बहुत बाधक है, लेकिन दार्शनिक मैं हूं कहाँ ? मैं अपने को निपट जिज्ञासु मानता हूं।

अक्सर अपने ऊपर पैरोडी और व्यंग्य जहाँ-तहाँ देखता हूं। मुख्य बात उसमें यही रहती है कि जैनेन्द्र यह भी है, वह भी है; उसकी हर बात यह भी है, वह भी है। दार्शनिक का यह लक्षण तो नहीं होना चाहिए। पर मेरी गति सचमुच ऐसी ही है। निश्चिति मुझे प्राप्त नहीं है, बल्कि जो प्राप्त है वह यह कि यहाँ बौद्धिक निश्चिति ही सबसे बड़ी समस्या और विपदा है। उसमें से हठ और आग्रह और आदेश-उपदेश निकलआते हैं और स्नेह-प्रेम कुचले जाते हैं। मुझे उन पैरोडियों और कटाक्षों में सदा ही बड़ा रस मिला है और मैं उनसे पूरी तरह सहमत हूँ। मेरी सी गति भगवान किसी को न दे।

ज्ञान की जड़ अहं में है। प्रेम अहं के विसर्जन का नाम है। इसलिए ज्ञान और प्रेम में सदा लड़ाई चलती है। मैं प्रेम का बिन बिका गुलाम हूं। द्रोह करके ज्ञान की पंक्ति में कैसे बैठ सकता हूं !

कहानी को मैं प्रेम-तत्व से जुड़ा देखना चाहता हूं। विच्छेद जहाँ दीखता है, जहाँ जानकारी और जवाबदारी स्नेह की इस सहानुभूति को दबा डालती है, वहाँ ही मुझे अरुचि और अतृप्ति हो आती है। अर्थात्, मुझे अपने से अरुचि और अतृप्ति सदा बनी रहती है।

—जैनेन्द्र जी, आपने कहानीकार होने से इनकार किया। किन्तु आपके अतिरिक्त आपके कहानीकार होने से कौन इनकार कर सकता है? दार्शनिक होने से आपके इनकार को भी इसी रूप में लेना होगा। अब मैं आपसे कहानी के उपयोगिता पक्ष पर, उसके देश-सम्बन्धी दायित्व पर, राष्ट्रीय दायित्व पर प्रकाश डालने का अनुरोध करता हूं।

—इनकार कहानीविद् होने से किया है, कहानी संग्रहों के भाग पर भाग निकलने पर कहानीकार होने से इनकार मेरा कैसे चलेगा? ज्ञान से इनकार है, कर्म का स्वीकार है।

देश को मैंने नक्शे में देखा है। उससे बाहर तो आदमी ही आदमी दीखते हैं। नक्शे की तरफ यदि अपना दायित्व मैं मान लूं तो काम बहुत आसान हो जाएगा। मैं वह आसानी नहीं चाहता। नक्शा गणित के अंकों के और ड्राइंग की रेखाओं के काबू में आ जाता है और तत्सम्बन्धी बढ़िया से बढ़िया योजना बिना प्रेम के योग के परिपूर्ण बनाई जा सकती है। मेरी हालत यह है कि मैं उस कम्बख्त से परेशान हूं जिसे प्रेम कहते हैं। दूसरे सबको भी उसी से परेशान पाता हूँ। रेखागणित या अंकगणित में से मिलने वाली सान्त्वना राजनीतिक को प्रसन्न करती है, वह उससे स्वास्थ्य और बल पाता है। मुझ में रोग गहरा है और उसका उपचार साहित्य में से भी मुझे पर्याप्त मिल नहीं पाता। कभी धर्म की भी आवश्यकता जान पड़ती है।

मानव व्यक्ति सामने है, मानव जाति का वही व्यक्त मूर्त पक्ष है। व्यक्ति की एकता में जाति की एकता सम्पन्न एवं निष्पन्न होने ही वाली है। बाकी एकताओं की मुझे चिन्ता नहीं है। मैं समझता हूँ कहानी को भी उस चिन्ता की आवश्यकता नहीं है।

यह जो धारणात्मक है जिसको अहं ने दृढ़ और पुष्ट करके मानो अचल सच बिना दिया है, वह सब सापेक्ष है। जो चाहिए वह मानव व्यक्ति की निरपेक्ष स्वीकृति है। विचार यदि प्रथम और व्यक्ति द्वितीय होगा तो दृश्य उपस्थित हो सकता है कि अमुक धर्म-विचार, मत-विचार या दल-विचार के लिए हजारों-लाखों की नरबलि दी जा रही हो, और निश्शंक निर्वेद भाव से दी जा रही हो! साहित्य से और साहित्य के अन्तर्गत कथा-कहानी से यह अपेक्षा है कि वह व्यवस्था के ऊपर व्यक्ति की प्रतिष्ठा करे और सब प्रकार के विवादों के शीर्ष पर मानव को सत्य-रूप में अभ्यर्थनीय बनाए। साहित्य का दायित्व है तो यह है। यह दायित्व हर वैचारिक मान्यता या जातीयता अथवा राष्ट्रीयता से उत्तीर्ण ठहरता है। सच पूछिए तो दृप्त और तप्त राष्ट्रवाद ही आज का संकट है और युद्ध के मूल में भी वही है।

—तात्पर्य यह है कि कहानी जातीय-राष्ट्रीय आदि आरोपित प्रयोजनों से शून्य होनी चाहिए, यानी जीवन की ही तराशी हुई फांक होनी चाहिए?

—शून्य की जगह मुक्त कहिए। अर्थात कहानी अन्दर से रिक्त नहीं हो सकती। जीवन किसी ऐसी अन्तिमता का नाम नहीं है जहाँ राष्ट्रीय अथवा जातीय सब प्रयोजन समाप्त हो जाएं। अर्थात, जीवन का हर चित्र और साहित्य की हर कहानी उस प्रकार के नाना प्रयोजनों से अछूती नही हो सकती। हर कोई सीमितता में रहता और जीता है। जीवन का अर्थ सीमा का अस्वीकार नहीं है। सारे प्रयोजन सीमा के साथ हैं, लेकिन आस्था असीम की ओर चलती है और वही मूल पूंजी है। उस आस्था से सब प्रकार के सब प्रयोजन पुष्ट होते हैं, नष्ट तनिक भी नहीं होते। किन्तु जब हम प्रयोजन को ही अपने आप में पोसना और पालना चाहते हैं तो वह दूसरे, अथवा दूसरे के, प्रयोजन से टक्कर में आ जाता है। इस तरह स्वदेश-राग विदेश-द्वेष पर पलने लग जाता है। प्रयोजनीयता के तल पर साहित्य को उतारने में यही

खतरा है। आज आवश्यकता के दबाव में आकर हम राष्ट्रीय रचना मांग सकते और उसकी अभ्यर्थना कर सकते हैं, लेकिन काम निकलने पर कल ही वह हमारे लिए भूल जाने लायक पदार्थ बन सकता है। जिसका यह भाग्य होता हो, उसे साहित्य नहीं कहते।

—जैनेन्द्र जी, 'उसने कहा था' से लेकर 'नई कहानी' तक हिन्दी कहानी की प्रगति के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

—विचार खराब नहीं हैं, इतना जानता हूं। क्या हैं, यह बताने लायक सही-सही उन्हें नहीं जानता। कहानी को मैं धारा नहीं मानता कि जैसे गंगोत्तरी से निकलकर हिन्द महासागर में पड़ने वाली गंगा है। हर कहानी का अपना व्यक्तित्व होता है और सब कहानियाँ मिल कर कोई एक धारा बना देती हैं जो कालानुक्रम से बढ़ती है, यह धारणा मेरी नहीं है। बुद्धिवादियों द्वारा पश्चिम से लाई हुई परिपाटी यह चल पड़ी है जो इतिहास की भाषा में ही जीवन और जगत को समझना चाहती है। मेरे पास कोई बहाना यह मानने का नहीं है कि अगर दो हजार वर्ष पहले महाभारत लिखा गया तो गुण में आज सवेरे लिखी गई मेरी कहानी उससे ठीक दो हजार वर्ष आगे है। समय के अर्थ को इस रूप में समझना केवल स्वार्थ से लगना और परमार्थ से दूर होना है।

हर नया लेखक आगे है और 'उसने कहा था' नाम की कहानी मील के पत्थर की तरह बस अपनी जगह गड़ी रह गई है, ऐसा मैं नहीं मानता। उस प्रकार से सोचने की मेरे लिए कभी आवश्यकता नहीं हुई। ऐतिहासिक भाषा से अलग नैतिक भाषा में साहित्य-विचार हो तो मैं समझता हूं यह अधिक सार्थक और सारगर्भ होगा। तब समय का प्रवाह हम को नहीं बहाएगा और हम किन्हीं स्थिर मूल्यों को पहचान और पकड़ सकेंगे।

—साहित्य को अथवा कहानी को ऐतिहासिक भाषा से नापने पर मेरा आग्रह नहीं है। किन्तु क्या आप यह नहीं मानेंगे कि 'उसने कहा था' की स्थिति से बढ़कर कहानी, जिसमें हिन्दी कहानी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की कहानी भी सम्मिलित है, आज हमारे साहित्य

की वह विधा बन गई है जिसमें वह विश्व साहित्य की समता कर सकती है ?

—तो क्या मैं यह मानूं कि 'उसने कहा था' विश्व साहित्य की समता नहीं कर सकती, और वह केवल हिन्दी साहित्य अथवा पुरातन साहित्य है ? जी नहीं, मैं उस तरह नहीं सोचता। हर बूंद, अगर वह अपनी जगह निर्मल है, तो विश्व ही नहीं ब्रह्माण्ड की निर्मलता में योग देने वाली है। विश्व की भौगोलिक एकता और अपनी भौगोलिक विस्तृति की ओर अधिक सम्भ्रम से देखने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं होकर, आंचलिक होकर, प्रादेशिक होकर रचना सहज भाव से सार्वभौम हो सकती है। प्रश्न प्रेम की स्वच्छता एवं अविकलता का है।

आज, स्वीकार करना चाहिए, हमारी मांग सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। पहले स्थूल से चल जाता था। प्रयोजनाश्रित रचनाएं मन को भा जाती थीं। एक लम्बे अर्से तक समाज का सुधार और कुरीति का निवारण मानो कहानी लेखन के प्रेरणा-सूत्र बने रहे। 'नई कहानी' अवगाहन में जाती हैं। यह उसकी प्रगति शुभ है। लेकिन यह तो समग्र काल की ही गति है और जीवन-विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता ही है। आज सूक्ष्म संवेदनाओं के आकलन का प्रयास अधिक दीखता है, घटना के घटाटोप का आग्रह कम है, और यह शुभ लक्षण है।

—बूंद के महत्व को घटाना मेरा उद्देश्य नहीं। मैं तो केवल यह कह रहा था कि गत पचास वर्ष में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और मोहन राकेश आदि कहानीकारों ने समग्र रूप में कहानी को इतना कुछ दिया है कि वह स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

—जैनेन्द्र को गिनती से बाहर कर दीजिए। वह जरूरत से ज्यादा मनमाना है। न भाषा को संवारता है और न शिल्प को। ऐसे अहंनिष्ठ को विचार की सभा में से बहिष्कृत रखना चाहिए। यह मैं किसी निजता के प्रभाव में नहीं कह रहा हूं, वस्तुनिष्ठ विचार की दृष्टि से ही कहने की छूट ले रहा हूं।

अन्य रचनाकारों में प्रेमचन्द और यशपाल मुझे वे प्रतीत होते हैं जिनके पास कथ्य है और तत्सम्बन्धी पुष्टता और निष्ठा है। शिल्प और कला इन दोनों के लिए साध्य नहीं है और ये श्रेय की बात है। अज्ञेय गहरे जाते हैं और सूक्ष्मता को हस्तगत किया चाहते हैं; लेकिन कला मानो उनके निकट साध्य हो जाती है और कथ्य कथन की मीनाकारी में गौण और झीना पड़ने लगता है। चन्द्रगुप्त जी बड़े स्वस्थ लेखक हैं, इतने कि इसी कारण न उनसे ईर्ष्या होती है न उत्तेजन मिलता है। मुझे लगता है लेखक को अवश्य किंचित हीन और असामाजिक होना चाहिए। चाहिए से मतलब होनहार ही यह होता है। चन्द्रगुप्त जी अपवाद नहीं हो सकते। मोहन राकेश की कहानियाँ मुझे सदा भिगोती और छूती रही हैं और यह मुझे अच्छा लगता है कि जोरदार वक्तव्य को वह बचाते हैं और रंग तीखे नहीं देते। मैं बड़े चाव से दूसरे लेखकों की भी कहानियां, जब हाथ आती हैं, पढ़ जाता हूँ और कुल मिलाकर मैं देख रहा हूँ कि हमारा संवेदन और संवेद्य सूक्ष्मतर होता जाता है और वातावरण की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। सुधार या उद्धार के आग्रह में वातावरण पर बलात्कार होने लग जाता था और प्रेमचन्द जी में यदि इसका अवकाश था तो यशपाल जी में और अधिक है। मंतव्य अधिकांश तो इनकी कहानी में रमा रहता है, पर कभी उसके ऊपर भी बैठा हुआ दीखने लग जाता है।

मानना होगा कि आज के दिन कहानी सबसे सशक्त माध्यम है। यों तो उपन्यास बड़ी उपलब्धि है और प्रभाव भी उसका घना होता है। लेकिन समय की गति में द्रुतता आ रही है और उपन्यास का कलेवर उस पर बोझिल पड़ सकता है। कहानी प्रवाही है और वृहत्काय नहीं हो सकती। यह अधिक समयानुकूल है और कहानी पर एक तरह अधिक दायित्व ले आती है।

आजकल जहां-तहां दीखने वाली कहानियों के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दी के लेखक उतने ही प्रबुद्ध और जाग्रत हैं, स्थिति के

प्रति उतने ही तत्पर हैं, जितने देश की अथवा विदेश की दूसरी भाषाओं के मान्य लेखक समझे जा सकते हैं। डर यही है कि कला और शिल्प यदि अपने आप में साध्य बनेंगे तो अदायगी ऊपर आ जाएगी, आत्मदान अकुण्ठित हो नहीं पाएगा। कला की जड़ावट-सजावट का, उसकी घिस-मांज का कहीं कुछ आधिक्य और अतिरेक तो नहीं हो रहा है, ऐसी शंका होती है। लेकिन प्राणवेग इस कौशल की अतिशयता के लिए अवकाश नहीं छोड़ने वाला है और आज के विश्व का, या हर कहीं का, आकुलित एवं विकलित जीवन स्वयं इस अतिरेक का उपचार करता चला जा सकता है।

कहानी :
प्रेरणा, प्रभाव और शिल्प

२

प्रश्नकर्ता : : जगदीश गोयल

—जैनेन्द्र जी, हमारी पिछली भेंट का आपको स्मरण होगा। उसमें आपने 'अहंनिष्ठ जैनेन्द्र' को 'विचार की सभा से बहिष्कृत' रखने को कहा था। आज हम उसी 'गिनती से बाहर' व्यक्ति पर अलग से चर्चा करेंगे। कहिए इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं है ?

—आपत्ति हो तो भी क्या आप टलने वाले हैं ?

—नहीं, लेकिन इस प्रकार स्वेच्छा से बहिष्कार का मार्ग अपनाकर क्या आपने अपने को विशिष्टता प्रदान नहीं कर दी ?

—इसीलिए कहता था कि आपत्ति से क्या फायदा है ? अन्य वाण आपकी तरफ़ से शायद पीछे आएंगे, पहले इसी प्रतिष्ठा वाले वाण को झेल लिया जाए।

हाँ, आपकी बात सही भी हो सकती है, प्रतिष्ठा अपनाने का भी वह बहाना हो सकता है। लेकिन क्या प्रतिष्ठा ऐसी बुरी चीज है कि उसे अपनाने से डर हो ?

क्या अच्छा यह न होगा कि प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा को अलग करके बात आगे चलाई जाए, क्योंकि वैसे हमारे बीच संशय आ जाएगा और हेतु परस्पर विरुद्ध पड़ जाएंगे। उस तरह चर्चा बेकार हो जाएगी।

—अपनी उस दिन की भेंट को मैं इसलिए अपूर्ण मानता था। जैनेन्द्र का व्यक्ति और शिल्प विशिष्ट है यह स्वीकार करना होगा। इसलिए उस पर विस्तार से विचार की आवश्यकता हुई।

—अच्छा, आप कहते हैं तो स्वीकार किया। फिर ?

—फ़िर, हम आरम्भ से चलेंगे। और मैं आपसे कहानी लिखना आरम्भ करने की मूल प्रेरणा पर प्रकाश डालने को कहूंगा।

—मुझे मूल का ठीक पता नहीं है। एक बन्धु क्रान्ति और उसी तरह के कामों से उखड़ कर बेकार हो गए और बेकारी में काम खोजते हुए दिल्ली आए। बड़ी कोशिश से उनको प्राइमरी स्कूल में मुदर्रिसी मिली। आदमी ऊंचे विचार के थे और कलाभिमुख थे। चौथे दर्जे तक का स्कूल और उन्होंने वहीं हाथ लिखी पत्रिका जारी की। बड़ी सज-धज और उद्यम से उसे संवारते थे। उसी के लिए पहली, दूसरी, तीसरी कहानी लिखी गई होगी। लिखते वक्त कहानी है यह भी नहीं मालूम होता था। चिट्ठी आती थी और जो मन में आया लिख भेजता था। पहली कहानी में शायद व्यंग्य के साथ उपदेश देने की मैंने ठानी होगी। दो-एक पैराग्राफ़ के बाद एक नेता उसमें अंग्रेज़ी में बोल पड़ते थे। उस अंग्रेज़ी की वक्तृता के दो चार वाक्य लिखने पर पता चला कि जहाँ चीज जाने वाली है वहाँ चटसाल के बच्चे होंगे, अँग्रेजी कौन समझेगा ? इसलिए उसे रोक लिया गया और वह पीछे 'देश प्रेम' के नाम से छपी। उसकी जगह लगे-हाथ वह घटना लिख भेजी जो कुछ रोज पहले मेरे साथ घटी थी। उसके आगे भी कल्पना से कुछ जोड़-जाड़ दिया और वह 'फ़ोटोग्राफ़ी' बन गई। उसी हस्तलिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिए 'खेल' और 'चोरी' बनीं। ये तीनों कहानियाँ पीछे दूसरी पत्रिकाओं में छपीं। लेकिन ये सब लिखते वक्त प्रेरणा का प्रश्न ही न हुआ था। बन्धु थे, चिठ्ठी का उत्तर ज़रूरी होता था और मैं मनमाना लिख भेजता था। क्या पता था कि ये रचनाएं कहानी कहलाएंगी और मुझसे एक दिन जवाब तक तलब होगा।

मूल प्रेरणा को लेकर बताइए अब मैं कहूँ तो क्या कहूं ?

—जैनेन्द्र जी, आपने कहा कि अपनी पहली, दूसरी, तीसरी, कहानियाँ लिखते वक्त आपको यह भी नहीं मालूम होता था कि वे कहानी हैं। लगभग ऐसा ही आपका वह वक्तव्य है जो मुझे स्मरण पड़ रहा है कि कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र का प्रवेश राजमार्ग से नहीं हुआ। किन्तु क्या

आप यह नहीं मानते कि मूल में आपके अन्तरतम का वह भाव वेग था जो व्यक्त होने को निरन्तर व्यग्र था और आपको अपने आपको उंडेल देने के लिए विवश किए डालता था ?

—अन्दर कुछ भाव था, यह मानने में उज़्र क्या हो सकता है। लेकिन वह बन्धु मुदर्रिस न बने होते और उन्होंने पत्रिका न निकाली होती तो अधिक सम्भव था कि मेरा लिखना ही न हो पाता। यानी लिखने की कोई विवशता मैं अपने जीवन में नहीं देखता। बरसों-बरस गुज़र गए हैं और मैंने एक हरफ़ नहीं लिखा है। अन्तःप्रेरणा की कोई विवशता होती तो यह हरामगिरी मुझ से नही हो सकती थी। अभी देखिए कि लिखने के सिवाय कोई मैंने काम का काम नहीं किया है, लेकिन जित्ता लिखा है उत्ता तो कोई प्रामाणिक कार्यकर्त्ता तीन साल में लिख फेंक सकता था। नहीं, वैसी कोई भीतरी बेवसी मुझ में नहीं थी। मुझ में न कुछ वक्तव्य है, न सन्देश है। जैसे बोल लेता हूं वैसे ही लिख भी जाता हूं। बहुत अधिक आयास-प्रयास की मुझे आदत नहीं है। न ऐसा कुछ मेरे पास मालूम होता है कि जिस पर आयास खर्च किया जाए। पाठकों और आलोचकों की ओर से जो कभी सुन पड़ता है, उसको अगर भुला दिया जाय तो मैं अपने बारे में किसी भूल में नहीं हूं। अर्थात् मैं जानता हूं कि मैं नहीं जानता।

—आप कहते हैं कि 'लिखने के सिवाय कोई मैंने काम का काम नहीं किया।' क्या लिखना अपने आप में सब कामों से बढ़ कर काम नहीं है। महमूद गजनी के भारत पर आक्रमणों या उसके साम्राज्य को आज कौन याद रखता है ? पर उसी के दरबार फिरदौसी का 'शाहनामा' आज भी एक जीवित स्रोत है। शासक और सत्ताधारी जो राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण करते हैं वे इतिहास में स्मारक स्तम्भ की भाँति जहाँ के तहाँ गड़े रह जाते हैं। पर लेखक विचार के प्राण वेग के संचारण के कारण शताब्दियों के आर-पार जीवित रहता है। फिर लेखक के काम को हम छोटा कैसे मान सकते हैं ?

——नहीं, नहीं, लिखने की तारीफ़ आप मुझसे न कीजिए। उससे अहंकार उद्दीप्त हो सकता है और वह घाटे की बात है। आप कहते हैं लिखना बड़े काम का काम है। काम का नहीं है यह तो मैंने भी नहीं कहा। कैसे कह सकता हूं? उसी की खा रहा हूं, नहीं तो नौकरी ढूँढ़ने गया तो क्या बीस-पच्चीस रुपए की नौकरी भी मुझे मिल सकी थी। एकदम नहीं मिल सकी थी। अब यह मौका है कि आप तक से बात हो रही है। यह अवसर जिसकी बदौलत आया है वह लिखना सचमुच बेकाम नहीं कहा जा सकता। लेकिन इससे आगे आप मुझे छल में नहीं डाल सकते। जैसे और काम हैं ठीक वैसे ही यह लिखने का काम हो सकता है, उनसे कम या अधिक मूल्य का मैं उसे नहीं मान सकता। मेहनती से और किसान से मैं अपने को किसी बूते भी कोई खास नहीं समझ सकता हूँ। सच यह है कि लिखना कोई काम ही नहीं है। काम होता तो कबीर जुलाहे क्यों बने रहते, और तुलसी ने भी कभी अपने को 'रायलटी वाला' कवि क्यों न माना होता, अन्त तक भिक्षुक क्यों माना होता। यह सब इसलिए कि लिखना काम नहीं होता है। यह तो पश्चिम ने उसे धन्धा बना दिया है और कम्यूनिज्म ने तो सबसे ही ठाठ का धंधा बना दिया है। समाज और राज की महिमा ही कहिए कि जो चाहे बना दे। सच में गहरे जाएं तो जान पड़ेगा कि लिखने को काम मानना और धन्धा बनाना शुभ नहीं है। फिर भी अगर उसकी दुहाई दी जाती है तो मैं उन दुहाई देने वालों को धन्यवाद भी दे सकता हूं, क्योंकि अन्त में उससे मेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है।

——किन्तु जैनेन्द्र जी, जुलाहे और भिक्षुक क्या संख्यातीत नहीं? अपनी वृत्ति से अतिरिक्त कारण से ही कबीर और तुलसी हमारे लिए अविस्मरणीय हैं, वैसे यह ठीक है कि समाज के किसी व्यक्ति का पेट दूसरों की ठठरियों के पसीने पर न पनपे। लेखक और कलाकार अपने को भौतिक अथवा शारीरिक श्रम से सम्पृक्त करने का दृष्टिकोण अपनाएं और अपने को जन-जीवन के समीप रखें इससे अधिक शुभ और श्रेय-

स्कर और क्या हो सकता है ? अब जैनेन्द्र जी, आप यह बताएं कि प्रेमचन्द जी के सम्पर्क में आप कब आएं और उनसे किस रूप में प्रभावित हुए।

—मैं चिट्ठी से उनसे पहले-पहल सन्' २७ में मिला हूँगा। रूबरू सन्' २८ के अन्त में।

सब से ज्यादा उनकी बेबाकी और बेगानगी का मुझ पर असर पड़ा। मैं नामी आदमी के पास गया, लेकिन मिलने पर मालूम हुआ कि जैसे उन्हें मालूम ही नहीं है कि वह नामवर हैं। यों तो अनजान कहना उन्हें मुश्किल है, लेकिन यह ज्ञान उनके भीतर तक नहीं उतर सका था और उनकी साधारणता को उनसे नहीं छीन सका था। इसकी झलक उनके लिखने में भी है। मानो लिखनेवाला लिखे गए चरित्रों से अलग और अन्य कुछ है ही नहीं, कुछ रहना ही नहीं चाहता। यह दिमागी आदमी के लिए कम सम्भव होता है। वह मानो ऊपर से लिखता है और चरित्रों को अपनी अधीनता में रखता है, उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देता। ऐसे उनका व्यक्तित्व अव्वल तो बनता नहीं, या बनता है तो वह बनता है जो स्वप्रतिष्ठ नहीं होता, लेखक के (अधिकांश मतवादी) प्रयोजन का उपकरण मात्र होता है। प्रेमचन्द का यह निरीह स्वभाव मुझे ऐसा छू गया कि उसके लिए मैं अब तक उन्हें याद करता हूँ। पहली बार आए तो क्या देखता हूं कि गली में से कम्बल कंधे पर डाले और हाथ में झोला लटकाए चले आ रहे हैं; तार न खत, बस बेखबर चले आ रहे हैं। बोले—'तार में फिज़ूल बारह आने डालने से क्या फायदा था ? आखिर घर तो आ पहुँचा न…।' यह चीज अब बहुत खोजता हूं, लेकिन बहुत ही कम मिलती है। बाकी प्रतिभा वगैरह तो सब ठीक हैं, लेकिन यह चीज़ जैसे जड़ की है। जड़ ही न हो तो ऊपर, सोचिए, खिलेगा क्या ?

—जैनेन्द्र जी, आपके कहानीकार के निर्माण में मात्र संयोग, प्रेमचन्द के सम्पर्क के अतिरिक्त जिन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव रहा हो, उन पर प्रकाश डालिए।

—मुश्किल है और मेरे पास इस बारे में कुछ प्रकाश नहीं है। इतना जानता हूं कि जब मेरा लिखना हठात् शुरू हुआ तब मैं बहुत बेहाल और बदहाल था। यहाँ तक कि मरने की बात सोचा करता था। ऐसे में कोरा तत्व सिद्धान्त काम नहीं दे सकता, न प्रिय हो सकता है। हर तत्व-वाद को मानो संवेदन की कसौटी पर उतरना और अपने को खरा साबित करना होता है। सबसे प्रथम तथ्य और मूल तत्व है दुख—इस बौद्ध कथन का भी शायद यही सार है। इसी अनिवार्यता में से विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

इधर-उधर की जो किताब हाथ आती मैं पढ़ता तो रहता ही था। लेकिन उस पढ़ने में से लिखना आया, या कभी आ सकता था, यह मैं नहीं कह सकता। लिखना शायद बाहरी संयोग के योग से ही हुआ। यहाँ दिल्ली में एक हिन्दी सभा बनी थी। मेरा सन्' २१ में माखनलाल जी से परिचय हुआ था जिसमें साहित्य का संदर्भ तनिक न था। लेकिन वह एक बार दिल्ली आए तो चतुरसेन जी के यहाँ ठहरे। ऐसे चतुरसेन जी की कृपा और उदारता से हिन्दी सभा में उपस्थित होना मिल गया। पहली कहानी वहीं पढ़ी गई होगी...मुझे एक घटना की याद आती है। एक बडे मानी विद्वान थे। थे क्या अभी हैं। बड़ी आशा से उन्हें कहानी सुनाई, बड़े धैर्य से उन्होंने सुनी। अन्त में यदि कुछ बात उनसे मालूम हुई तो यह कि भाषण 'दिया' नहीं जाता 'किया' जाता है। कहानी के लिए, यानी उस पर प्रकाश के लिए, मैं उनकी ओर देखता रह गया। पर जो वहां था, या वहाँ से आ सकता था, वह कुल जमा यह 'दिया' और 'किया' का फ़र्क था। ऐसा मालूम हुआ था तब कि कहानी इत्यादि सब वृथा है, 'दिया'-'किया' सम्बन्धी ज्ञान ही सार्थक है। आप सोच सकते हैं कि इस शिक्षा-दीक्षा के अधीन मैं कहानी को महत्व ही कैसे दे सकता था? उन परम विद्वान् को आलोचना का या आलोचक का मैं आदर्श मानू या नहीं, यह मैं निश्चय नहीं कर सका हूं। लेकिन ऐसा

अवश्य मालूम होता है कि भाषाविद् जिस लोक में रहता है कहानी लेखक की दुनिया उससे न्यारी ही होती है। दरजी मन के दुख की बात जानने की जरूरत में बिलकुल नहीं है, उसको बदन की नाप-जोख बस है। व्यवसाय का सचमुच यही गुर है। लेकिन दरजीपना भूलकर वह यदि आदमी और किसी का भाई-बेटा या पति वगैरह हो जाता है, तब बात अवश्य दूसरी हो जाती है। यानी कहानी (मेरे लिए) शिल्प नहीं है। वह संवेदन और संवेद्य है। उस प्रकार उसमें सीखने-जानने को बहुत कम रह जाता है। या कहिए कि जो सीखा-जाना जाता है वह सब वहां उपकरण भर रह जाता है, अर्थात् इष्ट नहीं आनुषंगिक होता है। मतलब यह नहीं कि जिन्हें मैंने पढ़ा है और जिनसे रस प्राप्त किया है उनके प्रभाव का मैं ऋण नहीं मानता हूं। लेकिन आशा है कि मुझे उनमें से किसी को याद में या नकल में लेने की आवश्यकता नहीं हुई है। उनका उपकार इतना हार्दिक है कि मुझे एक क्षण के लिए भी उपकृत बनने की याद नहीं आती। सच यह है कि दुनिया की और जिन्दगी की जो खुली पुस्तक सामने है, उसको उन्होंने मेरे लिए कुछ अधिक खुली बनाने में ही मदद की है। उस किताब के और मेरे बीच में आने की किसी ने कोशिश नहीं की।

—जैनेन्द्र जी, मैंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के विषय में जिज्ञासा की थी!

—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति की बात मैं क्या कहूँ? अठारह वर्ष की अवस्था में मैं बालिग हुआ होऊंगा। उस सन्' २३ से अब सन्' ६३ तक इन तीनों प्रकार की, या अन्य प्रकार की, जो परिस्थितियां यहाँ रही हैं वे उजागर हैं, नहीं तो रिपोर्टों से उन्हें जाना जा सकता है। जीवन में बाहरी जो घटनाएं घटीं उनका मेल भी कुछ उनसे बिठा कर देखा जा सकता है। लेकिन परिस्थिति मेरे लिए कोई मन-स्थिति से स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली चीज नहीं है। उस दृष्टि से परिस्थिति की बात करूं तो मेरे जीवन का कच्चा चिट्ठा ही खुल

निकलेगा। उसे खोलना मुझे मंजूर नहीं है। न खुले इसीलिए तो कथा-कहानी और उपन्यास हैं। जी नहीं, कच्ची चीजें आप मुझसे नहीं पा सकेंगे।

—जैनेन्द्र जी, आपका रचनाकाल गांधीयुग रहा जिसमें एक महान हस्ती ने जन-जीवन को भीतर तक झनझना कर जागृत कर दिया। उस हस्ती का प्रभाव आपके और आपके युग के साहित्य पर कहां तक पड़ा?

—उस 'तक' को मैं तय नहीं कर सकता। मेरे मन में समग्रता और संयुक्तता की चाह रहती है। मुझे लगता है कि मुक्त पुरुष पूर्णभाव से युक्त भी होता होगा। गांधी को मैं उसी चरम योग के संदर्भ में देखता हूँ। इतिहास के दूसरे महापुरुष उस तरह युक्त और मुक्त नहीं दिखाई पड़ते; मानो द्वैत के दो सिरे उनमें परस्पर टकराते रहते हैं, समन्वित नहीं होते। इसी से गांधी के प्रति मेरा गहरा आकर्षण है। घटनात्मक जो हुआ, यानी मैंने कालेज छोड़ा, जेल गया, वह सब ऊपरी बात है। शायद उसका निदर्शन मेरी रचनाओं में जहां-तहां मिल भी जाता हो। लेकिन जिसको गांधीवाद कहते हैं उसका राई-रत्ती भी बोध मैंने अपने दिमाग पर अनुभव नहीं किया है। वे न्याय नहीं करते हैं जो अपना बोझ गांधी के मृत्यु में से मुक्त हो जाने पर भी उन्हीं पर टिकाए रखना चाहते हैं। जो किया उसमें से मैं गांधी को नहीं देखता हूँ, जो वह हुए उसी को सीधे देख लेना चाहता हूँ। इस तरह गांधी मेरी अपनी मुक्ति में सहायक ही हो सकते हैं, मुझे बांध नहीं सकते।

—इसी युग के एक अन्य महापुरुष रवीन्द्रनाथ को आप मुक्तात्मा मानते हैं या नहीं? यदि हां तो क्यों और नहीं तो क्यों नहीं?

—मुक्त को शायद निर्गुण होना चाहिए। यानी कोई विशेषण उस पर सही-सही बैठ न सके। गांधी महात्मा थे और गोडसे के लिए दुष्टात्मा थे। कोई ऐसा शब्द नहीं है कि उसका प्रतिरोधी विशेषण भी उसी तरह गांधी पर लगाया न जा सके। पर रवि ठाकुर को बड़े निश्चय से हम

कवि कह सकते हैं और शायद अकवि कोई नहीं कह सकता। रवीन्द्र की विभूति सगुण है। गांधी को उस प्रकार रूप-वर्ण के ऐश्वर्य में से देखना मुश्किल होता है।

—जैनेन्द्र जी, आपने कहा कि कहानी के शिल्प में आप विश्वास नहीं करते, फिर भी क्या कहानी शिल्पहीन हो सकती है ?

—नहीं हो सकती। पर क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है जिसके भीतर वह जटिल यंत्र न हो जिसे मानव-यष्टि कहते हैं ? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है !

कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु शरीर यंत्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है ? शायद ज्ञान अपनी खातिर सृष्टिमर्म से संगत ही नहीं है।

—तात्पर्य यह कि आप अपने कहानी शिल्प के विषय में विशेष जानकारी का दावा नहीं करते। यही न ?

—हाँ, बिलकुल यही।

—लेकिन, आप लोगों की इस धारणा के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियां प्रश्नान्त होती हैं ? साथ ही, आप हमारी परस्पर की चर्चाओं में कभी-कभी व्यक्त किए गए अपने इस वक्तव्य के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियां थियोरम में से निकलती हैं ?

दोनों बातें ठीक हैं। प्रश्नान्त होती हैं मेरी कहानिया, क्योंकि प्रश्न मुझ में है और शान्त नहीं है। फिर यह कि कहानी थियोरम में से निकलती है मानो अपने आप अनिवार्य हो आता है। मैं श्रद्धा का विश्वासी हूँ, लेकिन प्रश्न का अधिवासी हूँ। इसलिए प्रश्न मेरी कहानी में नोचता-काटता सा नहीं आता, बल्कि समाधान खोजता-पूछता सा आता होगा। संसार प्रश्न है, ईश्वर समाधान है। लेकिन मेरा ईश्वर संसार के प्रश्न को बन्द नहीं करता है प्रत्युत अनन्त काल तक मानो उसे खुला रखने

को तैयार है । अर्थात् श्रद्धा में मैं अनन्त प्रश्न का समावेश सम्भव देख सकता और बना सकता हूँ । बल्कि मुझे लगता है कि आस्तिक होकर ही प्रखर नास्तिक हुआ जा सकता है । अन्यथा नास्तिकता में भी प्रखरता नहीं आएगी, जड़ता बनी रह जाएगी ।

प्रश्न के लिए आवश्यक है कि वह जिज्ञासा रहे, आलोचना न बने । यह सम्भव श्रद्धा के योग से ही हो सकता है और मैं आशा करना चाहता हूं कि मेरी कहानी के गर्भित प्रश्न में अहंवाद का दर्प नहीं रह जाता, अज्ञवाद और जिज्ञासा भले वहाँ रहती हो ।

—अच्छा, जैनेन्द्र जी, आजकल कहानी के लिए आवश्यक समझे जाने वाले बोधों—युग-बोध, तत्व-बोध, रस-बोध, भाव बोध, सूक्ष्म-बोध और दल-बोध—तथा अन्य अनेक बोधों को आप कथा की आत्मा अथवा कथा-शिल्प के लिए कहाँ तक संगत और सार्थक मानते हैं ?

—मैं भी उन बोध-व्यूहों की चर्चा छपी देखता और कभी पढ़ता भी हूं। पढ़ कर, भई, चौकड़ी भूल जाता हूं । बड़े लोगों की भीड़ के बीच कोई अनाड़ी पड़ जाए तो उसका जो हाल हो वही मेरा होने लगता है। कहानी के मामले में 'बोध' वाला माल मुझे जरूरत से भारी मालूम होता है । शायद वह शब्द कहानी से कहीं ऊपर अधर में विराजा हुआ रहता है; या कहो वह अचल शब्द है, कहानी के मर्म तक जाने का उपाय उसके पास नहीं है । बोध मानो कुछ स्थित तत्व है, कहानी की जान गति है । इसलिए बोध का बोध ही है जो कहानी को जड़ और निस्पन्द बना दे सकता है। हमारे नए बन्धु जितने हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आ रहे हैं सब खूब पढ़े-लिखे होते हैं । इसलिए बोध के बोध के चक्कर में वे पड़ें तो वे इसके अधिकारी माने जा सकते हैं। मैं अपने अभागे भाग्य का कृतज्ञ हूं कि उस अधिकार से वंचित हूं। जीने से इतना घिरा हूं कि अतिरिक्त जानने से आसानी से किनारे छूटा रह जाता हूं। ऐसा लगता है कि बेहद अक्षर-पाठी लोगों को कुछ निरक्षर पाठों की आवश्यकता है, नहीं तो उनकी कहानी उनके साथ इतनी विद्वान बन जा

सकती है कि सही-सही जी न पाए। कहानी के लिए एक अकेला प्यार बहुत काफ़ी है, फिर सारे दूसरे बोध नष्ट भी हो जाएं तो कोई हानि नहीं। समझ में नहीं आता कि ज्ञान से फूँक-फूंक कर ये जवान लोग प्यार को क्यों ठंडा बनाना जरूरी समझते हैं। ज्ञान से पहले ठंडा बना लेंगे, फिर शब्दों के जोर से उसे गरमाना चाहेंगे! यह सब चक्कर जरूरी नहीं होना चाहिए और विज्ञ में थोड़ा अज्ञ बनने की तैयारी चाहिए। कहानी पर बातें वे अवश्य करें जिनका वश बात में है, कहानी में नहीं है। बातों का क्षेत्र ही अलग है। कहानी में जिनकी कामना है उनको कहानी लिखनी-पढ़नी चाहिए।

भाई यशपाल ने एक जगह ठीक लिखा है कि अपना माल बेचने का सवाल भी आता है और वहां दस तरह की बातें बनानी होती हैं। उस हुनरमंदी का मामला हो तो सचमुच इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर आखिर स्वाद की परख चखने से ही होती है, बात कहने-सुनने से सही परख नहीं होती।

—आप कहते हैं कि कहानी के लिए क्या अकेला प्यार काफ़ी नहीं है। इसकी ज़रा और व्याख्या कीजिए।

—प्यार में व्यक्ति अनायास निस्व बनता है, अर्थात् स्वत्व को निछावर कर डालना चाहता है। प्यार के अतिरिक्त जब हम अपने पास कुछ रोक रखते हैं तो असल में उस बहाने अपने स्वत्व को ही अपने पास संचित और सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। इसमें हम समीक्षक और आलोचक बन जाते हैं और शेष सब हमारे निकट हमारी अपेक्षा दोयम बन जाते हैं। हम ज्ञाता, वे ज्ञेय। यह दिमाग की स्वत्ववादी (Appropriative) वृत्ति है और इसमें से न जागतिक सत्य हाथ आ सकता है, न आत्मिक। यह एक प्रकार की स्वरति का ही रूप है। इसी से परम अनुभवियों ने चेतावनी दी है कि विद्या अविद्या भी है, ज्ञान अज्ञान भी है। बोध की दुहाई से इसीलिए मुझे डर लगता है कि उसमें अंततः अहं का अर्जन और अर्चन आ जाता है और विसर्जन बच रहता है।

—क्या घृणा भी आपके उक्त प्यार के अन्तर्गत आती है ?

—घृणा के अत्यंताभाव में से ही प्यार उत्पन्न होता है। घृणा को समझें तो वह मूल में अपने प्रति प्यार का ही उत्कट रूप निकलेगा। स्वरत व्यक्ति चारों ओर घृणा का अधिकार पा जाता है। जब यह घृणा असह्य होती और अपने प्रति हो चलती है, ठीक उसी क्षण प्यार जग उठता है। प्यार के तत्वदर्शन में जाने की बिलकुल जरूरत नहीं है। रोजमर्रा के उथले-से-उथले प्यार में भी आप एक बात पाइएगा। आदमी जिससे प्यार करता है पहले उसकी निगाह तक से बचना चाहता है। याना अपने संबंध में एक हीनभाव की अनुभूति से प्यार आरम्भ होता है। उसमें प्रेमी आस और त्रास एक साथ पाता है। यह घृणा अपने से ही जो होने लगती है, अपने निज की रति से उलटे निज से खीज और ऊब हो आती है, तब मानो पूजा अपने से बाहर की ओर जाती है। इसी को तो प्यार का अनुभव माना जाता है।

इस तरह प्यार में से ही, मैं मानता हूं, वह सच्चा घृणा की अनिवार्य और अमोघ शक्ति प्राप्त होगी जिससे हमारे परस्पर संबंधों में आई घृणा अनावश्यक और व्यर्थ हो जाए। तब वह घृणा निर्वैयक्तिक होगी, व्यक्ति के संदर्भ से वह मुक्त हो जाएगी। अर्थात् पाप से ही होगी और पापी के लिए प्रेम को मुक्त करने वाली होगी।

अक्टूबर' १९६२

प्रण और परिणाम

यह क्या ? नहीं, यह नहीं हो सकता । पर तार सामने है । अखबार में भी खबर है, मदन ने रेल के नीचे आकर जान दे दी ।

जी मानना नहीं चाहता । इनकार करना चाहता है उसको जिसे विधाता कहते हैं, विधान कहते हैं । पर विद्रोह भीतर कितना ही हो, बाहर की घटना अघट हो नहीं पाती और वश यही है कि मान लिया जाय कि मोहन नहीं रहा, नहीं है, नहीं होगा ।

क्यों वह जीवन जो अमित संभावनाओं से शुरू हुआ था बीच में ही बुझकर कुचल गया, समझ नहीं आता । इससे भी ज्यादा समझ नहीं आता यह कि यह मैं क्यों रह रहा हूं और सफल बना दीखता हूं ! सच ही समय में और संसार में कुछ तुक नहीं दीखती है ।

या कि तुक वहाँ है, सिर्फ पकड़ में नहीं आ रही है ?

इंटर के बाद प्रयाग में थर्ड इयर में नाम लिखाया और होस्टल पहुंचा तो एक नामकी धूम सुनी । मदनमोहन उसी होस्टल में था । मालूम हुआ कि वह है कि जो कभी दूसरे नम्बर नहीं आया, सदा अव्वल रहा । मुझसे वह एक दर्जे आगे था, यानी फोर्थ इयर में । शुरू में महीनों तक हमारा सम्पर्क नहीं हुआ । मैं दूर से उसे देखता और बस सराहना में मुग्ध हो रहता । कभी एक आध शब्द बीच में आया हो तो हो भी सकता है । पर हम लगभग उस वर्ष के अन्त तक अपरिचित से रहे । एक दिन

सवेरे ही कमरे में आकर मदन ने कहा—कहो रतन, कैसा चल रहा है। मैंने कहा, कि ठीक है। वह बोला कि—मालूम हुआ तुम मुजफ्फरनगर के हो, मैं भी उसी ज़िले का हूं। ऐसे हमारा परिचय हुआ और गाढ़ा होने लगा। तब तक मैं कुछ अकेला और भटकासा रहता था। अब दिन हरे भरे बीतने लगे। वह मुझे सवेरे उठाता और घूमने ले जाता। उसके सहयोग से पढ़ाई में पिछड़ापन मेरा दूर हो गया। उसके कारण मेरा दिलचस्पी का क्षेत्र बढ़ा और एक तरह मैं उसका कृतज्ञ और अनुगत हो गया। मैंने देखा कि वह अपने में सावधान है, समय खोता नहीं है। बल्कि सवेरे ही दिनभर का क्रम स्थिर कर लेता है और उसी के अनुसार चलता है। पाठ्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ पढ़ता है। महापुरुषों के जीवन चरितों से उसे प्रेम है और उनकी सूक्तियाँ सुन्दर जिल्द की एक कापी में अंकित करता रहता है। नित्य डायरी लिखता है और संकल्प दोहराता है कि उसी मार्ग पर चलेगा और महापुरुष बनेगा।

उस वर्ष परीक्षा के बाद हम विदा हुए और उसने मुझसे वचन लिया कि मैं छुट्टियों के दिनों में अपनी पढ़ाई करता रहूंगा। उसने कहा कि रतन, दुनिया दौड़ है और सहारा यहाँ अपना ही है। दूसरे पर भरोसा डालना ठीक नहीं है। आत्मविश्वास स्वतः होता है, इत्यादि इत्यादि। उसका ग्रीष्मावकाश के लिये अपना बधा कार्यक्रम था और मुझे वह सब जान-कर उसके प्रति भक्ति हो आई।

सदा की भांति इस वर्ष भी वह बी० ए० में युनिवर्सिटी में प्रथम आया और अगले वर्ष अंग्रेजी साहित्य में उसने एम० ए० लिया और हम फिर मिले। वह मेरा युनिवर्सिटी इयर था और इस बार भी मदन की मुझे बड़ी सहायता रही। उस समय की एक बात मुझे याद है—कई विद्यार्थी आई० सी० एस० में बैठ रहे थे। कई ऐसे थे जिन्होंने बी० ए० ही किया था और मदन से कहीं नीचे उनका स्थान था। सबका ख्याल था कि मदन बैठे तो उसके कामयाब होने में शंका नहीं है। पर उसने सुना अनसुना कर दिया। बहुत कहा तो उसने जवाब दे दिया—वह राह

मालिकों की नहीं है, नौकरों की है। महापुरुषता तक वह नहीं ले जा सकती। लोगों को यह सुनकर अजब लगा और अहंकार की ध्वनि उसमें मिली। लेकिन मदन निश्चिंत था और उसमें कोई अतिरिक्त गर्व भी नहीं देखने में आता था। वह साल भी बीता और फिर जब मैं एम० ए० प्रीवियस में था तो मेरे विवाह की बात चली। मैंने मदन से पूछा। उसने कहा—तुम क्या सोचते हो ?

मैंने कहा—मैं माँ का सामना नहीं कर सकता। उनकी बात माननी होगी।

उसने सलाह दी कि दृढ़ रहना चाहिये और स्वावलम्बी हुए बिना विवाह पाँव की बेड़ी बन जायगा और गति रुक जायगी।

मैंने माना कि बात ठीक है, लेकिन माँ माँ हैं।

वह आश्चर्य से बोला कि क्या सब निश्चय माँ का होगा ? कन्या का निश्चय भी ?

मैंने कहा, और क्या ?

सुनकर वह मुझसे निराश हुआ। उसने मुझे समझाया कि भाग्य तो अपने हाथों से बनाना होता है और अपने जीवनसंगी के चुनाव के लिये, तुम्ही सोचो, दूसरे के हाथ में बात देना कैसे सही हो सकता है।

बात ठीक थी और मैं दलील नहीं दे सका। लेकिन बता दिया कि माँ से किसी तरह मैं बाहर नहीं जा सकता। जो वह करेंगी सो होगा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि मैं सब देख लूंगी, तुझे कुछ ज़रूरत नहीं है। मदन को खेद हुआ और तब उसने अपनी बात सुनाई। प्रमिला को मैं भी जानता था। वह प्रयाग के प्रतिष्ठित घराने की कन्या थी और थर्ड इयर में पढ़ती थी। मदन ने बताया कि उसके पिता ने विषय छेड़ा तो मदन ने कह दिया कि प्रश्न अभिभावकों का नहीं, उनका है जिनका सम्बन्ध होगा। पिता सहमत हुए और मदन की एकांत में प्रमिला से भेंट हुई। मदन ने छूटते ही साफ कह दिया कि जब तक वह

जम न जायेगा, विवाह न करेगा। सुनते हो रतन, साफ़ और दो टूक बात अच्छी होती है।

उस समय तो इतनी ही बात हुई और मैं मदन के प्रति प्रशंसा से भर गया। क्योंकि वयस्काओं से बात करते तक मैं भिझकता था। लेकिन अक्सर मैं सोचता कि इस दृढ़ता के सामने प्रमिला का क्या हुआ होगा। उसके रूप की और कुलीनता की ख्याति कम न थी और मैं सोचता कि क्या ऐसी अवस्था में वह दब सिमिटकर रह गई होगी?

जो हो, दिन जाते देखने में आया कि मदन कुछ उड़ा उड़ा उद्विग्न दीखता है। मुझे उसने स्वयं कुछ नहीं कहा। न मैंने पूछा। लेकिन बात अब युनिवर्सिटी भर में चर्चा का विषय थी। मालूम हुआ कि किसी सहेली ने प्रमिला से पूछा तो उत्तर मिला—हज़रत किसी गहरी ग़लतफ़हमी में हैं। यह प्रमिला का जवाब सारे में फैल गया था और विद्यार्थियों का समुदाय स्थिर नहीं कर पाता था कि मदन और प्रमिला में इसरार किधर है और इंकार किधर है। कई कहानियाँ चल रही थीं और ऊपर से जो देखने में आता था वह यह कि प्रमिला खुली और मुखर है और मदन खिन्न और बंद।

इन्हीं दिनों एक रोज़ रात को मदन आया, अंदर से कमरे की चटखनी लगाई और बैठकर बोला—रतन, यह क्या सुनता हूं? तुमने यह कैसे कहा कि प्रमिला के लिए मेरा आग्रह है और उसे अनाकर्षण है।

मैंने कहा, जिसने उसे ऐसा कहा झूठ कहा है। मुझ से वास्ता क्या?

मदन ज़ोर से बोला—वास्ता है। सब जानते हैं कि तुम मेरे निकट रहे हो। तो सुनो, और जिसे चाहो बता सकते हो, कि मैंने साफ इंकार कर दिया था। लेकिन अगर प्रमिला का यही रुख है तो मुझे अपने इंकार को तोड़ना होगा। वह समझती क्या है! उसका बाप प्रार्थी होकर आया था और अगर यही है तो मैं बता दूंगा कि क्या होगा और क्या हो सकता है!

मदन की यह भावना मेरी समझ में नहीं आई। मैंने पूछा कि क्या जमने के पहले वह विवाह के लिये राज़ी हो जायेगा।

मदन बोला कि—होगा यह ग़लत। लेकिन अगर वह प्रमिला की बच्ची अपने को बहुत गिनेंगी तो ऐसा हो भी सकता है।

यह तो तुम्हारा अपने प्रति अन्याय होगा—

बीच में ही बात काटकर उसने कहा—हाँ। लेकिन उसके प्रति यही न्याय होगा। यह पैसेवाले अपने को समझते क्या हैं। इज्जत जैसे उन्हीं की है। दूसरे की कुछ है ही नहीं।

तो क्या करोगे—प्रमिला अगर तनकर रहती है तो ?

उसको पूछना कौन है। उससे अब तो बात करने तक के लिये मैं राज़ी नहीं हूँ। बस बाप से कह दूंगा कि—लेकिन रतन, कसम खाओ कि तुम इस बारे में कहोगे तो यह ही कि इंकार मेरी तरफ से रहा। है ना ?

मैंने वचन दिया—क्योंकि क्या सच भी यही न था ?

कहानियाँ बढ़ती गईं और हम लोग बिखर गये। मदन वही फिर प्रथम आया और सुनने में आया कि विवाह उसका जून में किसी समय है और सितम्बर में किसी एक दिन विलायत जा रहा है। मैं विवाह में सम्मिलित भी हुआ और मालूम हुआ कि भरपूर दहेज के साथ मदन को पच्चीस हज़ार रुपया नकद भी मिला है और मदन इस बात के लिये राज़ी हुआ है कि वह विलायत में आई० सी० एस० की परीक्षा देगा। विवाह में स्वभावतः उसकी सब तरफ मांग थी और वह व्यस्त था। तो भी एकांत में लेकर मैंने उससे कहा—मदन, तुम्हें बहुत बहुत बधाई है।

वह प्रसन्न था। हंसकर बोला—किस बात की बधाई ?

मैंने कहा; भाभी पाने की बधाई और आई० सी० एस० की।

बोला—भाभी की बधाई तो उसको जिसकी भाभी हो और आई० सी० एस० को किसने देखा है। पर रतन तुम नहीं समझते। यह बताओ, तुम कब कर रहे हो विवाह ?

मैंने कहा, बस आपकी तरह एम० ए० के बाद।

भाभी के रूप में प्रमिला को देखा। खूब खूश थी और कहीं कुछ और न था। दोनों की उपस्थिति में मैंने कहा—भाभी, उन्हें अकेला भेजोगी विलायत ?

हंसकर बोली—नहीं तो कहते हो बेड़ी डालकर भेजूं ?

मैंने कहा—भाभी, खतरा है।

मदन ने डपटकर कहा—चुप रह बे।

भाभी बोली—खतरा हमसा काला तो नहीं, कुछ सफेद ही होगा। चलो क्या बात है।

सब हंसी खुशी हुआ और सितम्बर में मदन विलायत चला गया। वहाँ आई० सी० एस० में उसने उल्लेखनीय सफलता पाई और हिन्दुस्तान आते ही जिले में कलक्टर तैनात हुआ। यह भी कह देने लायक है कि इसी काल में उसने केम्ब्रिज का डी० लिट० भी कर लिया था। मैं अपने मित्र की इस उन्नति पर अपने को गर्वित अनुभव करता था।

एम० ए० के बाद एक सम्बन्ध से मुझे भी दिल्ली में यह जगह हाथ आ गई और विस्मय हुआ कि मदन मुझे भूला नहीं है। क्योंकि विना सूचना के एक रोज़ मेरे बंगले पर उपस्थित दीखा। मुझे बहुत आनन्द हुआ और खूब गपशप हुई। यह कोई पाँच बरस बाद की बात होगी। भाभी का हालचाल पूछने पर बताया कि सब ठीक है और तीन वर्ष की एक कन्या है। ऊपर से तो कुछ बात न थी लेकिन अनुभव हुआ कि भाभी का प्रकरण उसे प्रिय नहीं है। वह दिल्ली में किसी विभागीय बैठक के सिलसिले में आया था और मध्यप्रदेश से अपना तबादला कहीं उत्तर की ओर कराना चाहता था। मालूम हुआ कि डायरी नित्य लिखता है किंतु इसमें संदेह है कि महापुरुषता अब हाथ आ सकेगी। वह हमारी श्रीमती जी को बेहद पसंद आया और स्वयं उसके सामने उन्होंने जतलाया कि मैं तुलना में कितना मन्द हूं। मैंने कहा—भाई, ये महापुरुष हैं। मदन ने कहा—शट अप। इस तरह वह भेंट आनन्दमय रही। लेकिन एक वर्ष बाद सुनने में आया कि आई० सी० एस० से उसने स्तीफा दे दिया है और कहीं देहात में

चटशाला खोलकर बैठने का विचार कर लिया है। यह प्रयोग भी दो वर्ष चला। प्रमिला दो महीने तो साथ रही, शेष काल वह अपने मायके ही रही। अनन्तर सुना गया कि उसने एक कालेज का प्रिंसीपल पद स्वीकार कर लिया। उस कालेज का विकास होता चला गया, लेकिन पाँच वर्ष बाद मालूम हुआ कि कालेज की व्यवस्था समिति से मतभेद हो जाने के कारण वहाँ से मदन ने छुट्टी ले ली है। इस समय तक उसके परिवार में दो पुत्रों की अभिवृद्धि हो गई थी।

एक दो वर्ष वह इधर उधर शोधकार्य में रहा। फिर सपरिवार इंगलैण्ड चला गया। यह प्रवास पाँच वर्ष तक रहा और फिर विद्यापीठ की अध्यक्षता स्वीकार कर वह भारत आ रहा। वहाँ से उसके राजनीतिक जीवन का आरंभ हुआ। इस काल में सुनते हैं उसकी आय घट गई थी। लेकिन प्रमिला बच्चों को विलायत से हटाने को तैयार न थी। यह सार्वजनिक जीवन का काल आंतरिक संघर्ष का रहा। असेम्बली चुनाव में एक बार उसको विफलता मिली। बाद में रचनात्मक कार्य की ओर उसकी प्रवृत्ति हुई और वह एक देहात में जा बैठा।

सुनने में आया कि इसी समय में कन्या ने विलायत में ही एक भारतीय से विवाह कर लिया और पत्नी पुत्रों की सुविधा की दृष्टि से विलायत ही रहने लगी।

रचनात्मक कार्य का क्रम फला फूला नहीं। इसी समय उसका पत्र मिला कि क्या मैं कुछ मदद कर सकता हूँ। मैंने उसकी संस्था के लिये पहले पांच और अगले वर्ष पच्चीस हजार रुपये इकट्ठा करके भेजा। उसके बाद दो तीन बार मदन मेरे यहाँ आया। उसके मन में क्रांति भरी थी और वह विश्व की गतिविधि से बेहद असंतुष्ट था। देश का नेतृत्व उसे असह्य हो रहा था और वह देशसेवा में अपने को मिला देना चाहता था।

श्रीमती ने मुझे कहा कि इन्हें रोको। ऐसे चलेंगे तो रह नहीं पायेंगे। पर रोकने का उपाय न था। क्योंकि देशसेवा का उन्हें प्रण था और घर-गृहस्थी की बातों से वह पार हो चुके थे।

उसके बाद जो बीमार पड़ा तो अवस्था बिगड़ती गई और पत्नी विलायत से आकर पास पहुँची। तबियत सुधर रही थी और मैं कुछ दिनों में छुट्टी लेकर स्वयं वहाँ जाना चाहता था। मदन किसी तरह अस्पताल में जाने को राजी न हुआ था। पत्नी ने पहुँचकर उस छोटे कस्बे में ही विशेषज्ञ आदि की व्यवस्था की थी। तबियत में सुधार हुआ था और स्वास्थ्य लगभग पूरा ही लौट आया था—

कि तार पाता हूँ और अखबार में खबर देखता हूं कि उसने रेल के नीचे आकर जान दे दी !

मुझ में गुस्सा है। विद्रोह है, और नहीं जानता अपने सारे क्षोभ को मैं कहाँ फेंकूँ, किसके माथे डालूँ ?—हे राम, तेरे माथे ?

अक्टूबर' १९६०

वह रानी

तेरह बरस की वह बालिका मुझे भूलती नहीं है और उसके बाद के दस बरस में जो घटित हुआ है वह तो विस्मित ही किये दे रहा है।

तब मेरी अवस्था सत्रह वर्ष की रही होगी। दूर इलाहाबाद से इन्टरमीडिएट की परीक्षा देकर दिल्ली में मामा के यहाँ आया था। मामी का बड़ा आग्रह था और माँ ने भी कहा था कि परीक्षा के बाद सीधे दिल्ली जाकर अपने मामा के यहाँ पन्द्रह बीस दिन बिता आना। दिल्ली इससे पहले एकाध बार आया हूंगा, लेकिन विशेष परिचित न था। वहीं मामा के यहाँ पहली बार यह लड़की देखी थी। देखकर विशेष ध्यान नहीं किया। जैसे प्रातः कालीन उषा को देख लेते हैं तो अच्छा लगता है, फिर दिन के काम में लग जाते हैं, कुछ ऐसा ही हुआ था। लेकिन मामी ने जब कहा, "क्यों लाला, क्या सोचते हो ?" तब मालूम हुआ कि अधिक ध्यान की आश्यकता है।

इस षड्यन्त्र में मामा शामिल न थे। न मेरे पिता को ही इसकी खबर थी। बात स्त्रियों में ही हुई मालूम होती थी। अब समझ में आया कि, माता का अनुरोध क्यों था और सीधे घर न बुलाकर मुझे यहाँ क्यों भेजा गया था। मामी ने कहा—"बाकी हमारे ऊपर छोड़ो, घरबार देखा भाला है। तुम लड़की के बारे में कहो ?"

मैं संकोच में कुछ नहीं कह सका। संकोच इस कारण था कि लड़की मुझे बहुत दूर और दुर्लभ मालूम हुई थी। जैसे वह चाँदनी हो, नई

खिली नरम-नरम धूप हो। उसका मुक्त हास्य मैंने सुना था। ऐसा लगा था जैसे कि पहाड़ से समतल पर आया चश्मा हल्के-हल्के खिलखिलाता हो। यह सब उस समय तनिक सुख दे गया था। जैसे आँखों को और भावों को हल्की बयार की एक हिलोर थपकी सी दे गयी हो। लेकिन सम्बन्ध की जब बात आयी तो मुझमें दुविधा हो आयी। दृश्य के रूप में जो सर्वथा रुचिर था, प्राप्य के रूप में उसी में थोड़ी आशंका हो आयी। सहसा अपनी अपात्रता का बोध उठा। जितनी इच्छा हुई, उतनी ही हीनता अनुभव होने लगी। वह चली जा चुकी थी। याद नहीं वस्त्र क्या पहने थी। उस समय ऐसा मालूम हुआ था कि वस्त्र वे शबनम के थे, याद करने की शोशिश में याद नहीं आ रहे थे।

"हाँ लाला, तुमने बताया नहीं, क्या सोचते हो?"

"बेकार बात न करो, मामी। बी. ए. के आगे मुझे ला करना है। तब कहीं कुछ देखा जायगा।"

"अरे तो ब्याह की बात थोड़े ही है, अभी। वह पीछे होता रहेगा। पर तय कर रखना क्या बुरा है। तेरी माँ तो राजी है।"

"हटाओ, मैं नहीं जानता।"

"मिलोगे? बात करोगे?"

"उससे क्या होगा?"

"कुछ नहीं होगा, यही न?" मामी ने हंसकर कहा। "न सही, लेकिन वह तुझे जानती है।"

"मुझे जानती है?"

मामी हंसकर रह गयी, कुछ बोली नहीं।

"मुझे कैसे जानती है! मेरी तरफ तो उसने आँख उठाकर भी नहीं देखा!"

मामी हंसती ही रहीं, और मेरे मन में आशा बंधी। तीसरे पहर कोई चार बजेके लगभग मैं अपने कमरे में आराम कर रहा था। तभी

दरवाजे पर रानी उपस्थित हुई। उसकी भवों में तेवर थे। बोली—"आपने मुझे बुलाया था ?"

धृष्टता पर दंड देने आयी हो, ऐसी मुद्रा थी। मैं लेटा हुआ था। झटपट करके उठ आया। कहा—"नहीं।"

"बुलाया, तिस पर झूठ !"

आदमी के साथ जाने क्या हो जाता है। मुझमें कोमल भावना थी। लेकिन क्षण में आवेश हो आया। कहा—"क्या बकती हो !"

"मैं बकती हूं ?" उसका चेहरा भी एक साथ लाज से अरुण नहीं, आवेश से आरक्त हो आया।

अब तो बात बदल गयी। उसकी मुद्रा में तीखा मान आ झलका। जैसे मुझे भय मालूम हुआ। शायद इसी से तेजी में कहा—"किसी ने नहीं बुलाया। आप जा सकती हैं।"

लड़की का चेहरा कठोर हुआ। उसने नीचे का ओठ अपने दाँतों से काट डाला। मालूम हुआ कि अभी रो नहीं पडेगी तो कुछ उत्पात किये बिना उससे रहा नहीं जायगा। मुझे अपने पर पछतावा हुआ। लेकिन किसी बात का अवसर ही न मिल पाया, वह बढ़ती और बढ़ती ही आयी और आकर जोर से मेरे गाल पर एक थप्पड़ जड़ दिया।

अब मैं नहीं कह सकता क्या हुआ। कारण, उस समय रोष एकदम मुझ में उठा ही नहीं। मैं विस्मय से उस कन्या को देख उठा। उल्टे मैं विनोद में कुछ हंसा भी। अवश्य मेरे सारे चेहरे पर उस समय विस्मय लिख आया होगा। उसकी आँखें फटी-सी रह गयीं थीं। जैसे उसे कुछ न समझ आ रहा हो। चेहरा फक हो आया। मैं उस चेहरे के स्तब्ध भाव को एक क्षण देखता रहा। फिर उठा और कमरे का दरवाजा अन्दर से बन्द कर दिया। जैसे उसे कुछ भान न हो। चेत हुआ, तो दोनों हाथों से मुंह को ढककर वह वहीं फर्श पर बैठ गयी और बिना आवाज किये रोने लगी। मुझे भी कुछ न सूझा और जाकर मैं वैसे ही पलंग पर बैठ गया।

वह नीरव भाव से रोती गयी। कहीं ध्वनि न थी। मुंह हाथों में लेकर सिर घुटने पर टिकाए वह बैठी हुई थी और वक्ष श्वास-प्रश्वास के साथ हल्के उठता-गिरता था। ऐसे एक-दो मिनट हो गये। धोती सिर पर से सरक कर नीचे आ गयी थी और बालों में बीच से साधी हुई मांग मेरी आँखों के सामने थी। दोनों तरफ बाल सावधानी से किये हुए थे। चोटी का भाग धोती के पल्ले के नीचे रह गया था। यह सब मुझे बुलाता मालुम हुआ। द्वार बंद था और क्षण सब संभावनाओं से भरे थे। पर कुछ न हुआ, कुछ न हुआ।

इतने में बंद दरवाजे से होकर भी मामी की पुकार पड़ी, "रानी, ओ रानी !"

मैं अब अपनी जगह से उठा और दोनों बाहों से पकड़कर उसे उठाया। न, विशेष प्रतिरोध नहीं हुआ, मेरे हाथों में वह उठती हुई चली आयी। उठाकर खाट पर बिठाया और बड़े प्रयत्न से उसकी हथेलियों को चेहरे पर से अलग किया। वह मुंह दिखाना नहीं चाहती थी और मुझे उन हाथों को उसके मुख से अलग करने में काफी बल का प्रयोग करना पड़ा। लेकिन अन्त में उसने प्रतिरोध छोड़ा और मैंने ठोडी से उसका चेहरा ऊपर किया। आँखें बन्द थी और आँसुओं की धार दोनों कनपटियों से बहती हुई गर्दन तक आ गयी थी। उस समय वह मुख मेरे लिए बहुत ही मनोज्ञ हो आया। उसमें जैसे अब केवल उन्मुखता ही हो, शेष सब भीतर से समाप्त हो गया हो। मैंने कहा—"छि : छि:, यह क्या ? कोई बात भी हो !"

कहते-कहते उसने ठोडी पर से मेरा हाथ हठाया और झुककर फिर मुंह को अपने हाथों में लिया।

मैंने इस बार ढके मुंह को ही पूरा हाथों में लेकर ऊपर उठाया। कहा—सुनती हो ? मामी पुकार रही हैं।

अब तक शायद उसने सुना न था। हाथ दोनों सहसा चेहरे पर से हट आये और वह घबरायी हुई-सी बोली,—क्या ?

सचमुच वह बालक ही थी । क्षण में चेहरा दूसरा हो आया । धोती से उसने मुंह पोंछा । कहा—ताईजी ने आवाज दी थी ?

"हाँ, तुमने सुना नहीं ?"

"बड़े वैसे हो !"

कहकर वह दरवाजे की ओर बढ़ी । मुझे जाने क्या हुआ, मैंने बाँह पकड़ कर उसे रोकते हुए कहा—"ठहरो, कैसा हूं, यह बताती जाओ ।

मेरा हाथ उसने झिटककर दूर कर दिया । कहा—"हटो, जाने दो ।"

मैं हटा नहीं और जाने भी नहीं दिया । दोनों कंधे पकड़कर उसे अपने सामने ले लिया, कहा—"सुनो, मामी कह रही थीं—"

"क्या कह रही थीं ?" उसने पूछा और शरारत की हंसी हंसी ।

"यहीं कह रही थीं कि—मैं क्या कहता हूं ।"

अब वह जरा दूर हटी । बोली, "तो हाँ, क्या कहते हैं ?"

"पहले तुम बताओ ।"

"मैं ?"

"हाँ ।"

"पहले दरवाजा खोलो ।"

"भागोगी तो नहीं ?"

"ताई बुला रही है जो—"

"मैं नहीं खोलता ।"

"अच्छा भागूंगी नहीं, खोलो ।"

मैंने दरवाजा खोल दिया, फिर आकर अधिकार और अपेक्षा में खड़ा होगया पर मामी को जाने क्या हुआ था । आवाज आयी—"रानी, ओ रानी !"

"आई ताई जी ।"

"नहीं, तुम नहीं जाओगी । पहले बताओ, क्या कहती हो ?"

"कुछ देर ठिठकी, फिर बोली, पिटनेवाले को क्या कहती हूं ?" कहकर उसने ओठ निकालकर मुझे बिराया और कमरे से भाग खड़ी हुई ।

× × ×

वह नीरव भाव से रोती गयी। कहीं ध्वनि न थी। मुंह हाथों में लेकर सिर घुटने पर टिकाए वह बैठी हुई थी और वक्ष श्वास-प्रश्वास के साथ हल्के उठता-गिरता था। ऐसे एक-दो मिनट हो गये। धोती सिर पर से सरक कर नीचे आ गयी थी और बालों में बीच से साधी हुई मांग मेरी आँखों के सामने थी। दोनों तरफ बाल सावधानी से किये हुए थे। चोटी का भाग धोती के पल्ले के नीचे रह गया था। यह सब मुझे बुलाता मालुम हुआ। द्वार बंद था और क्षण सब संभावनाओं से भरे थे। पर कुछ न हुआ, कुछ न हुआ।

इतने में बंद दरवाजे से होकर भी मामी की पुकार पड़ी, "रानी, ओ रानी !"

मैं अब अपनी जगह से उठा और दोनों बाहों से पकड़कर उसे उठाया। न, विशेष प्रतिरोध नहीं हुआ, मेरे हाथों में वह उठती हुई चली आयी। उठाकर खाट पर बिठाया और बड़े प्रयत्न से उसकी हथेलियों को चेहरे पर से अलग किया। वह मुंह दिखाना नहीं चाहती थी और मुझे उन हाथों को उसके मुख से अलग करने में काफी बल का प्रयोग करना पड़ा। लेकिन अन्त में उसने प्रतिरोध छोड़ा और मैंने ठोडी से उसका चेहरा ऊपर किया। आँखें बन्द थी और आँसुओं की धार दोनों कनपटियों से बहती हुई गर्दन तक आ गयी थी। उस समय वह मुख मेरे लिए बहुत ही मनोज्ञ हो आया। उसमें जैसे अब केवल उन्मुखता ही हो, शेष सब भीतर से समाप्त हो गया हो। मैंने कहा—"छि : छि:, यह क्या ? कोई बात भी हो !"

कहते-कहते उसने ठोडी पर से मेरा हाथ हठाया और झुककर फिर मुंह को अपने हाथों में लिया।

मैंने इस बार ढके मुंह को ही पूरा हाथों में लेकर ऊपर उठाया। कहा—सुनती हो ? मामी पुकार रही हैं।

अब तक शायद उसने सुना न था। हाथ दोनों सहसा चेहरे पर से हट आये और वह घबरायी हुई-सी बोली,—क्या ?

सचमुच वह बालक ही थी। क्षण में चेहरा दूसरा हो आया। धोती से उसने मुंह पोंछा। कहा—ताईजी ने आवाज दी थी ?

"हाँ, तुमने सुना नहीं ?"

"बड़े वैसे हो !"

कहकर वह दरवाजे की ओर बढ़ी। मुझे जाने क्या हुआ, मैंने बाँह पकड़कर उसे रोकते हुए कहा—"ठहरो, कैसा हूं, यह बताती जाओ।

मेरा हाथ उसने झिटककर दूर कर दिया। कहा—"हटो, जाने दो।"

मैं हटा नहीं और जाने भी नहीं दिया। दोनों कंधे पकड़कर उसे अपने सामने ले लिया, कहा—"सुनो, मामी कह रही थीं—"

"क्या कह रही थीं ?" उसने पूछा और शरारत की हंसी हंसी।

"यही कह रही थीं कि—मैं क्या कहता हूं।"

अब वह जरा दूर हटी। बोली, "तो हाँ, क्या कहते हैं ?"

"पहले तुम बताओ।"

"मैं ?"

"हाँ।"

"पहले दरवाजा खोलो।"

"भागोगी तो नहीं ?"

"ताई बुला रही है जो—"

"मैं नहीं खोलता।"

"अच्छा भागूंगी नहीं, खोलो।"

मैंने दरवाजा खोल दिया, फिर आकर अधिकार और अपेक्षा में खड़ा होगया पर मामी को जाने क्या हुआ था। आवाज आयी—"रानी, ओ रानी !"

"आई ताई जी।"

"नहीं, तुम नहीं जाओगी। पहले बताओ, क्या कहती हो ?"

"कुछ देर ठिठकी, फिर बोली, पिटनेवाले को क्या कहती हूं ?" कहकर उसने ओठ निकालकर मुझे बिराया और कमरे से भाग खड़ी हुई।

× × ×

वह बात मैं भूलता नहीं हूं। उस लड़की को भी भूलता नहीं हूं। उसके बाद दो बार उससे और भेंट हुई है। आवेश नहीं, होश-हवास में बातचीत हुई है। उसकी एक ही रट थी कि उसको उलटकर मारा क्यों नहीं गया! उसे मारा जो नहीं गया, कुछ किया जो नहीं गया, सो वह आगे विचार नहीं कर सकती। मैं उसको समझ न पाया। हंसी-हंसी में मैंने कहा भी कि लाओ अब जितना कहो पीट दूं। लेकिन वह नहीं मानी, नहीं मानी। जोर-जबर्दस्ती को जी होता था, पर वह मुझसे न हो पाया। उसके इन्कार की कल्पना न कर सकता था। पर उससे 'हाँ' न पा सका। इसलिए मेरे अपने आग्रह में तीव्रता ही आती गयी। पर दावे में सक्रिय मैं न हो पाया। अंत में उस तेरह बरस की लड़की से हार मानकर अपना सा मुंह लेकर मुझे वापिस आ जाना पड़ा।

इस घटना ने मुझे एकदम बदल दिया। अब तक पढ़ाई में ज्यों-त्यों चल रहा था। अब मालूम हुआ कि नहीं उस ओर मनोयोग देना होगा। कुछ बनकर दिखाना होगा। जीवन की गतिविधि ही बदल गयी। इन्टर तीसरे दरजे में पार किया था, बी० ए० में दरजा पहला आया। फिर विदेश गया। ऐसे सात साल बाद अपने देश लौटा।

इस सारे काल में रानी के बारे में मैंने कुछ मालूम नहीं किया, लेकिन वह एक क्षण को मेरे मनसे दूर नहीं हुई थी।

उसके सम्बन्ध में बाहर क्या होता है यह जैसे मेरे लिए उत्सुकता का विषय नहीं था। जिस लड़की से पिटकर मैं उसे पीट नहीं सका था और इसी दोष के लिए जिसे मैं पा नहीं सका था, वह लड़की उसी रूप में मेरे भीतर बैठ गयी थी, हटती नहीं थी। मैंने भूलकर भी उस सम्बन्ध में किसी से नहीं पूछा, न कहा। सात वर्ष के बाद जब वापिस देश आया तब जाने मुझमें किस भावना ने मुंह उठाया। मुझे अपने में ही लज्जा जान पड़ती थी, खुलकर किसी से कुछ कह नहीं सकता था। पर मालूम हुआ कि—उसका विवाह हो गया है और अपनी घर गृहस्थी में सुख-चैन से है।

बड़ा सन्तोष हुआ कि सुख-चैन से है। लेकिन मैं अपने माता-पिता को अभी तक अपने सुख-चैन के सम्बन्ध में सन्तोष नहीं दे सका था। अब उनको जल्दी थी। आने के बाद अच्छी जगह पाने में मुझे देर नहीं लगी और कह दिया कि, मैं उनके हाथ में हूं। आशय, आने के वर्ष ही मेरा विवाह हो गया।

× × ×

यह उससे एक वर्ष बाद की बात होगी। मुझे समय नहीं मिल रहा था और एक पर एक काम आते चले जा रहे थे। मैं अपने से झल्लाया हुआ था। बार-बार उस कागज पर निगाह डालता था, जिस पर उन सज्जन का नाम लिखा था। दुःख था कि डेढ़ घंटा हो गया, मैं उन्हें बुला नहीं पा रहा हूं। होते-होते लंच का समय निकट आने लगा। पर काम की भीड़ छुट्टी नहीं दे रही थी। अन्त में पाँच मिनट मेरे उठने में शेष थे, कि मैंने उन्हें बुलाया। वह पैंतीस से चालीस बरस की अवस्था की बीच के सज्जन रहे होंगे। मैंने उठकर अभिवादन किया और क्षमा माँगी। पूछा, "कहिए, मैं क्या सेवा कर सकता हूं ?"

उन्होंने अपना मामला सुनाया। कहीं उनका प्रमोशन अटक गया था। उन्हें आशा थी, कि मैं उस सम्बन्ध में सहायता कर सकता हूं। मैंने बताया, कि यह मेरे करने की बात नहीं है। अगर हेडक्लर्क उनकी सिफारिश करें, तो उतने से ही यह काम हो सकता है।

उनके पास केस की बाक़ायदा बनी हुई फाइल थी और उन्होंने मेरे सामने पेश की। मैंने उसे वापिस उन्हीं की ओर सरका दिया और कहा—"वह सब ठीक है, लेकिन आप ,,जैसे भी हो, हेड क्लर्क की सद्भावना प्राप्त करें। अन्यथा मेरे हाथ बँधे हुए हैं।"

उन्होंने कहा—"हेड क्लर्क का ही तो अन्याय है और—"

मैं अपनी जगह से खड़ा हो गया और कहा—"खेद है, अब मुझे जाना होगा।"

मुझे दुःख था कि मैं उनकी सहायता नहीं कर पा रहा था।

लेकिन इस पर और भी दुःख था कि मेरे पास ऐसी छोटी-छोटी बातें क्यों लाई जाती हैं। मैंने अपेक्षा की कि वह सज्जन मुझे उठा देखकर पहले स्वयं चले जाएँगे। लेकिन वह अपनी जगह रहे और मैं इस कारण चलते-चलते रुक गया। कहा—"कहिए ?"

आशय था कि आप खड़े क्यों है, अब तक कमरे में किसलिए हैं। लेकिन यह संकेत भी उन्होंने नहीं लिया और वह वैसे ही खड़े रहे। मैंने कहा—"क्षमा कीजिएगा—"

बोले—"मैं फिर आपकी सेवा में आऊँ ?"

"क्यों वृथा कष्ट कीजिएगा ? कुछ होगा तो हेड क्लर्क स्वयं मिल लेंगे।"

"मैं—मैं—आप मधु रानी को जानते होंगे !"

"जी ?"

"उन्होंने मना कर दिया था। लेकिन—"

मैंने अन्यमनस्क भाव से उन्हें देखा, कुछ कहा नहीं।

"मधु रानी मेरी पत्नी हैं। उन्होंने मुझे कसम दिलाई थी कि मैं उनका जिक्र नहीं करूँगा। वह आपको जानती हैं। आपके दिल्लीवाले वह मामाजी हैं न, उनके यहां—लेकिन मैं क्या करूँ। उन्हीं के चार बच्चों का सवाल है। मुझे इस वक्त कुल पिचासी रुपया मिलता है। आपसे अधिक क्या कहूं ?"

"मुझे बताइएगा मैं क्या कर सकता हूं। अच्छा तो फिर मिलिएगा।" कहकर मैं चला आया।

चला तो आया, पर सूचना मेरे लिए भारी थी। उन सज़्जन का ध्यान आने लगा। गिरस्ती कैसे चलती होगी, इसका चित्र मन में उठता था, लेकिन मैं लेना नहीं चाहता था। फिर नित्य के कार्यक्रम का बहाव ऐसा आया, कि वह मुझे अपने साथ उखाड़कर ले चला। यों भी मन उधर जाने से बचना ही चाहता था। ऊँची जगह होकर मेरे मन में यह भी बैठता जा रहा था, कि भाग्य में अधिक दखल देना नहीं चाहिए। बद-

लता तो वह है नहीं, इससे उसको अपना काम करते रहने देना चाहिए। भावनाएँ आदमी के अन्दर रह सकती हैं। पर भाग्य का तर्क यदि कठोर है तो ऐसा अकारण नहीं है और भावना के तर्क से दुनियाँ का काम चल नहीं सकता है।

कहना होगा कि उस घटना के बाद मैं महीने दो महीने दफ्तर में प्रतीक्षा सी ही करता रहा। वह सज्जन आयेंगे या हेडक्लर्क कभी उनकी बात लेकर दर्शन देंगे। पर वह कुछ होने में नहीं आया। मुझे प्रसन्नता होती, अगर कोई आता और मैं तब उस सम्बन्ध में थोड़ा कुछ कर देता। वह प्रसन्नता मुझको नहीं प्राप्त हो सकी, तो इस कारण मैं कुछ वंचित भी अपने को अनुभव करता रहा। आखिर दो महीने बीत गये, तो मैंने पता लगाया। मालूम हुआ, कि वह सज्जन विना नोटिस नौकरी छोड़कर चले गये हैं। कहाँ चले गए हैं, यह पता नहीं लग सका। इतना अवश्य मालूम हुआ, कि उस नगर से उन्होंने अपना ठिया-ठिकाना उठा लिया है।

मन यह जानकर भारी दबाव के नीचे हो आया। फिर ध्यान हुआ, कि निश्चय ही यह कदम सज्जन ने स्वयं नहीं उठाया होगा। सरकारी दफ्तर में काम करते-करते इतना मान-गुमान उनमें शेष ही नही बचा था। अवश्य यह रानी का ही हठ रहा होगा। यह सोचकर मैंने मन में दूसरी बार निश्चय किया, कि भाग्य केवल अतर्क्य नहीं है, बल्कि यहाँ जो जैसा करता है, वैसा भरता है। इस तरह मैं अपनी जगह पर स्वस्थ और पदोन्नत रहता चला गया। क्या यह सच नहीं है, कि इस दुनिया में जो होता है उसको कुछ बहुत फेरा बदला नहीं जा सकता। गिरनेवाले जो गिरते हैं, सो वे अकारण नहीं गिरते हैं। शायद गिरने के कारण उनके अन्दर मौजूद रहते हैं। मैंने यह भी सिद्धाँतत: देख लिया, कि करुणा और सहानुभूति अपने मन में रखी जा सकती है। उससे आगे आदमी का वश नहीं है।

उसके बाद अब यह दसवाँ वर्ष है। इन दस वर्षों में कितना क्या घटित नहीं हो गया है। एक घटना तो यह कि रानी विधवा हो गई है। उसके बाद

फिर क्या हुआ है ठीक तरह कह नहीं सकता···। लेकिन अभी-अभी वह मेरे द्वार से गई है। अभी जो हो गया है, वह मैं जानता हूं और सुना सकता हूं।

कोठी के लोग उसे मुझ तक पहुंचने नहीं दे सकते थे। उसके साथ दो छोटे बच्चे थे। एक उँगली पकड़े था, दूसरा गोद में था। दोनों की शकल-सूरत हाल-हुलिया पूछना नहीं चाहिए। वह भीख माँगती आई थी और उसी के अनुसार वेशभूषा भी थी। कुछ दे भी दिया गया था, पर वह घर के मालिक से मिले बिना टलती नहीं थी। इसमें हर तरह की फजीहत सहने को तैयार हो गई थी। नौकर-चाकर लोग अन्त में उसे मेरे पास लाये। मुश्किल हुई, पर पहचान मैंने उसे लिया। सबको कहा कि तुम लोग जाओ। जाने पर मैंने कहा—बैठो रानी।

वह बैठी नहीं।

मैंने कहा—बैठो, बैठो।

बोली—मैं भिखारिन हूं। इन बच्चों को देखकर झोली में कुछ डाल दीजियेगा तो चली जाऊँगी।

मैंने आदर से कंधों से थामकर उसे कुरसी में बिठाना चाहा। उसने एक हाथ से जोर से पकड़कर मेरा हाथ झिटक दिया। बोली—भीख दे सकते हैं तो दीजिये, अपमान मत कीजिये।

"रानी, उन्होंने नौकरी क्यों छोड़ दी थी?"

वह चुप रही।

"तुम्हें मालूम नहीं, मैंने हेडक्लर्क को कितना कहा-सुना था।"

"आप मेरे अपमान से बाज नहीं आयेंगे?"

"रानी, तुम्हें मुझसे मिल लेना चाहिए था।"

"तुम इतने नीच निकलोगे, यह मैं कब जानती थी?"

"छोड़ो, अब जो हुआ सो हुआ।"

"चुप रहो।"

"रानी !"

"सच कहती हूं, मैं तुम्हें फिर पीट सकती हूं।"

"रानी, यह सब क्या हो गया !"

"बेहया, बेशरम, मुझसे पूछते हो ? अब समझी, मैं तुमसे भीख भी नहीं ले सकती···"

"रानी !"

"नीच, कमीने। उस वक्त नहीं मार सके थे, तो इस तरह मारकर बदला लेते शरम नहीं आती है। तो रखो अपना रुतबा। क्या समझते हो, मैं वही पहलेवाली रानी अब भी हूं।"

कहकर वह एकदम बाहर चली गई। मैंने बढ़कर उसे थामा, नौकर-चाकर आ गये, उन्होंने सँभालने की कोशिश की। लेकिन जाने वह क्या-क्या बकती-झकती चली गई और किसी के काबू में नहीं आकर दी।

जून' १९६०

अमिया, तुम चुप क्यों हो गयीं

अमिता कब कैसे अमिया बन गयी, किसी को मालूम नहीं।

अमिताभ ने कहा—"अमिया, तुम चुप क्यों हो गयीं ?"

बहुत दिनों के बाद अमिता जुहू के उपाहारगृह में आ सकी थी। अमिताभ ने बहुत सन्देशे भेजे थे, अनुहार-मनुहार लिखी थी। यह नहीं कि मन उसका नहीं होता था, पर अवसर नहीं निकलता था। वह काम में रहती थी, और चारों ओर से उस पर ध्यान भी रहता था। पर, सच यह है कि उसके मन में ही दुविधा हो आती थी। जाने पर कष्ट ही मिलता था और उसकी ही कसक को सुख मानते चले जाने में जोर पड़ता था। एक बार जाकर फिर आने की आकांक्षा को लेकर वापिस आना पड़ता था और बड़ा अजब मालूम होता था। इसलिए वह तय करके आयी थी कि इस बार छुट्टी कर लेनी होगी। इस प्यास को पानी के पास ले जाकर और ज्यादे तीखा बनाते जाने में लाभ नहीं हैं। शायद वह प्यास ऐसे ही सूख-सुखा जाएगी। या हो सकता है कि भरभरा भी जाए। हर कुंए के पानी में फर्क रह सकता है, लेकिन पानी तो पानी है। ऐसा मन को समझाकर और पूरी तरह उसे पक्का मजबूत करके वह जुहू तट के इस उपाहारालय में आ गयी थी। अमिताभ को यह समझाती चली गयी थी कि—

...वह एकाएक रुक गयी। उसने देखा कि शायद अमिताभ उसे सुन और सभझ नहीं रहा है। वह उसे देखे ही जाता है। इस पर उसे अट-

अटा लगा और वह चुप हो पड़ी। उसने अब चिन्ता से अमिताभ को देखा। कारण, उसके चेहरे पर अबोध भाव के साथ एक अविश्वास दीखने लग गया था। उसे मानो डर हुआ। लेकिन वह सहमी रह गयी, कुछ बोली नहीं।

अमिताभ ने कहा—"अमिया, क्यों ? चुप क्यों हो गयीं ?"

समय तीन बजे का होगा। उपाहारालय में सन्नाटा था और घड़ियाँ अलस-भाव से जा रही थीं।

अमिया ने चारों ओर देखकर कहा—"तुम नहीं बोलोगे ?"

"मैंने तुम्हें इतनी चिट्ठियाँ लिखीं। सबमें मैं ही तो बोलता रहा हूं। तुम्हारा उत्तर नहीं आया। अब तुम आयी हो, तो क्या यही ठीक नहीं है कि तुम्हीं बोलो और मैं सुनता रहूं।"

"तुम सुन रहे थे ?"

"हाँ, सुन रहा था।"

अमिता हंस पड़ी। बड़ी नन्हीं-प्यारी सी हंसी थी। बोली—"अच्छा क्या सुना ?"

"छोड़ो।" अमिताभ ने कहा।—"यह बताओ, कि तुम अमिता हो, मैं अमिताभ हूं। यह सिर्फ संयोग ही है ?"

"और क्या है ?"

"भवितव्य नहीं है ?"

"नहीं।"

"बको मत।"

हंसते-हंसते अमिता एकदम रुक गयी। फिर गम्भीर हो आयी। बोली—"शास्त्र कहते हैं कि विवाह पूर्वलेख से होता है। और भवितव्य की ओर से भी होता है। उसके बाहर का शेष सब संयोग हैं और उसे सामने से निकल जाने देना चाहिए, अपने में नहीं लेना चाहिये !"

"विवाह तो मेरा भी हुआ है।"

"हाँ, तुम्हारे ही लिए तो कह रही हूं।"

"अपने लिए नहीं ?"

"नहीं। हम लोगों का क्या है! इज्जत असल आदमी की होती है। उसीसे फिर स्त्री की बना करती है। अमिताभ, अपनी तरफ देखो। जो तुम चाहते हो, उससे कहीं ज्यादे मैं भी वह चाह सकती हूं। लेकिन श्रम तो पुरुष को करना पड़ता है। मैं आगई तो फिर सँभालना किसे पड़ेगा ? तुम्हारी आज प्रतिष्ठा है तो इसीलिए कि घर-बार है। मैं तो तुम्हारे आश्रय में जैसे हुआ रह लूंगी। लेकिन, मुझे देने को ही तुम कुछ आश्रय नहीं पा सके और समाज ने तुम्हें त्याग दिया, तो तुम्हारा क्या होगा ? जो आश्वासन समाज पुरुष को दे सकता है, वह प्रेयसी नहीं दे सकती। समाज पुरुष के लिए बहुत आवश्यक है। उसके लिए एक मान का स्थान चाहिए। उस मान को और स्थान को मानो मैं तुमसे छीनकर सब उजाड़ दूंगी। तुम अधर में रह जाओगे, और स्थितिहीन हो जाओगे। इतना ही नहीं, ठीक ऐसे समय मैं और तुम्हारे लिए बोझ आ बनूंगी।...मैं काम कर सकती हूं और अच्छा वेतन पा सकती हूं। और कहीं दूर चले जाएं, तो शायद निर्वाह मज़े में हो सकता है। लेकिन इतनी बड़ी लज्जा का कारण मैं तुम्हारे लिए नहीं बन सकती हूं। तुम्हारे आश्रय के लिए आकर स्वयं तुम्हारे लिए यदि मैं आश्रय बनने लग गयी, तो अपने सम्बन्ध में तुम्हारा मानसंभ्रम सब खतम हो जायगा। मेरे लिए जो प्रिय है, सो वह तुम्हारा प्यार भी खतम हो जाएगा। वह सब विडम्बना पैदा करने और तुम पर डालने के लिए ही क्या मैं रह गयी हू ? नहीं, अमित, जान रहते उतना तुम्हारा अहित मुझसे न होगा। मेरे लिए तो शायद स्वर्ग हो, लेकिन तुम्हारे लिए नरक जो मैं बना बैठूंगी उसमें से फिर स्वर्ग का उपभोग कैसे पा सकूंगी ? इस-लिए कहती हूं अमित—"

"इसीसे जवाब नहीं दिया ?"

"हाँ, इसी से नहीं दिया।"

"और अब समझ देने आयी हो ?"

'हाँ, आयी वो हूं ।"

अमित के माथे पर बल पड़े। उसने कहा—"मैं समझ गया। अब जाओ।"

पहले तो अमिता ने कातर भाव से देखा। फिर उसे क्या हुआ कि बैग सम्भाला और वह उठ खड़ी हुई।

उनके बीच में प्लेट्स अभी रखे ही गये थे और मुश्किल से अल्पारम्भ हो पाया होगा। अमिता ने अपना पर्स खोलना चाहा—

अमित ने कहा, "धन्यवाद, पेमेण्ट हो जायगा, आप जा सकती हैं।"

खोलते-खोलते उसने पर्स को बन्द कर लिया, बोली नहीं।

अमित चुप बैठा रह गया।

क्षण के सूक्ष्म भागतक वह मेज के पास ठिठकी रही कि वह रुकेगी और कोई रोकेगा। अमित गुमसुम रहा और हठात् अमिता को दरवाजे की ओर बढ़ना पड़ गया। दरवाजे से वह भी बाहर निकल आयी और अमित अपनी जगह से हिला न डुला। उसने कोई चेष्टा न की, बल्कि पैकिट निकालकर सिगरेट मुंह में सुलगा लिया। गहरा कश खींचा और ऊपर उठते हुए धुएं के छल्लों में देखता रहा। वहां कोई अमिता न थी और छल्ले अंधेरे थे और घूम रहे थे।

अमिता बहुत धीरे-धीरे चली। उसे हर पग पर लग रहा था कि कोई पीछे से आकर उसे पकड़ न ले। पकड़ कर दबोच भी सकता है। इसका उसे डर था। इसलिए वह चली जा रही थी। लेकिन फिर भी, पग धीमे-धीमे पड़ रहे थे। जैसे डर डर न हो। थोड़ी देर बाद उसे जान पड़ा कि यह ठीक नहीं हुआ है। घर से चली तो सहेली का नाम लिया था और शाम गये पहुँचने की बात कही थी। अभी तो चार भी न होगा। शेष समय वह कहाँ बितायेगी, उसके मन में स्पष्ट नहीं हो रहा था। लेकिन वह आगे बढ़ी ही चली जाती थी। पर जुहू की रेती आने वाली थी, तभी

मोड़ के पास ज़रा उसके आगे कार रुकी और अमित बाहर आया। कहा—"माफ कीजिए। आइए, मैं घर छोड़ आऊं।"

"जी नहीं। धन्यवाद।"

"रास्ते में तमाशा न कीजिए।"

सचमुच तमाशा सा मालूम हो सकता था। सड़क सूनी न थी। लोग आ-जा रहे थे। अमित ने आगे का दरवाजा खोलकर कहा—"आइए। नहीं तो लोग क्या कहेंगे?"

अमिता ने पीछे का दरवाजा खोला और कार के अन्दर बैठ गयी। अमित ने गाड़ी स्टार्ट की।

लेकिन, कुछ ही गज चलने पर गाड़ी को उसने रेत की तरफ बढ़ा दिया। स्थान का अंत आ गया, तो उतर कर कहा—"आइए, उतरिए। उतरिए न—।"

अमिता बिना कुछ बोले उतरी। उतर कर चुपचाप पीछे सड़क की तरफ चल दी।

"ओह, तो तमाशा ही आपको मंजूर है।"—कहता हुआ अमित तेज़ कदमों से बढ़ा। और आकर उसने अमिता को कसकर बाँह से पकड़ लिया। फिर झटका देकर उसका सामना समुद्र की ओर कर दिया।

अमिता ने कुछ प्रतिरोध नहीं किया। लेकिन उसकी काया से और इस अप्रतिकार भाव से इतनी उपेक्षा प्रगट हुई, कि अमित मानो जड़ीभूत हो गया। बोला—"सच, अमिता, घर जाना चाहती हो?"

"मर जाना चाहती हूं!"

"अमिया!"

"करते क्यों नहीं जबर्दस्ती। रुक क्यों गये?"

"अमिया!!"

"चलो जहाँ लिये चल रहे थे—"

"नहीं, नहीं। घर जाना चाहो तो..."

"चलो, अपने मनकी कर लो।"

"अमिया।"

"बस ?"

"सच, तुम क्या चाहती हो ?"

"पानी के किनारे नहीं चलना है ?......देखो, उधर देखो। सागर की तरफ देखो। कैसा गरज रहा है। कहीं उसका अंत है ? कहाँ उसका अंत है ? लेकिन, हम खड़े हैं और मकान खड़े हैं और क्लब और रेस्टॉरेंट खड़े हैं। क्योंकि, गरज कितनी भी हो और अथाह और अनंत उफान हो, सागर मर्यादा रखता है। आओ, चलो अमित, आगे बढ़ो।"

अमित का साहस मानो जाता रहा। अभी कुछ पहले उसमें जाने कितना आत्मविश्वास था। वह जानता था कि इस अपदार्थ नारी को कुचलने में समय नहीं लगेगा। लेकिन जाने उसे क्या हो गया। वह ठिठका रह गया। अमिता ने उसे बाँह से लिया और दोनों आगे बढ़ते हुए, सागर के तट की ओर उतरते चले गये। अमित चुप था और अमिता उसे लिए जा रही थी।

अमिता ने उसकी बाँह को खींचते हुए कहा—"तुम कैसे हो ? ख्याल है कि मैं यहाँ कैसे आयी हूंगी ? चल ही रहे हो और मुझे चलाये जा रहे हो। मैं थकी हो सकती हूं, ये विचार तुम्हें नहीं आता ? बैठोगे नहीं ?" और एक तरफ उसे धकेलकर खींचते हुए बोली—"आओ, बैठें।"

अमित अपने से तंग था। ये ऐसे क्षण उसे अच्छे नहीं लगते। दुनिया में दुविधा वह कभी नहीं पालता। पाता है तो झट काट देता है। वह सफल पुरुषों में से है। अनिश्चय उसके पास नहीं हो पाता। लेकिन, इस लड़की अमिया के साथ जाने क्या हो जाता है कि उसका सब सोचा-साचा उलटकर बेकार पड़ जाता है। उसने अपने से मानो झुंझलाकर कहा—"तुम क्या चाहती हो, अमी। सच बताओ !"

"सच कहती हूं, वही जो तुम चाहते हो।"

"मैं क्या चाहता हूं ?"

"वह तुम जानो।"

"मैं...मैं प्यास नहीं चाहता। प्यार एक प्यास है। मैं वह नहीं चाहता। मैं उसे बुझाना चाहता हूं। अब सुन लिया मैं क्या चाहता हूं ?"

'यह तुम क्यों समझते हो कि जो, तुम चाहते हो, वह गलत है।"

'नहीं, यह मैं नहीं समझता।"

"तो बुझाना क्यों चाहते हो ?"

"प्यास को प्यासा रखूं ? कौन बेवकूफ यह मानेगा !"

"ये समुद्र है। प्यास लगेगी तो उसके पास जाओगे ? पानी ही पानी है। लेकिन पियोगे ?"

"अमी, तू बहस भूल नहीं सकती ? कभी अगर तेरे ये शब्द खतम हो सकते, और तू जान सकती कि..."

"कि प्यार क्या होता है ?" अमिता हंसती हुई बोली—"क्यों यही न ? प्यार सागर होता है। उसमें से बूंद पानी नहीं पी सकते।"

"क्यों नहीं पी सकते ?"

"पी के दिखाओ न अगर हिम्मत हो।"

"परकोटे में जो सागर बन्द हो, तो मैं क्या करूं ?"

अमिता हंसी। "ओह ! परकोटे तोड़ने वाले तुम नहीं हो ? और क्या पता परकोट दीखने के ही हो। आखिर वस्त्रों में क्या दीखने से अधिक शक्ति है ? और सब क्या उतारने के लिए ही नहीं पहना जाता है ? टूटने को परकोटे न बनते, तो उनको पूछता कौन ?"

"अमी, सच जी करता है, तेरी इस वाचालता पर तेरा मुंह जबर्दस्ती बन्द करके तेरे ऊपर से सब चीर-फाड़ करके अलग उतार फेंकूं। तब पता चले, तू क्या बक रही थी !"

बाँकी चितवन से हंसकर वह बोली—"जी करता है ! लेकिन, फिर क्या नहीं करता है ? रोक क्या लेता है ?"

"यही...ठाक यही समझ में नहीं आता है। अपने इन दोनों हाथों से मैंने तुझे मसलकर एक बार ही फेंक क्यों नहीं डाला है, मेरी समझ में नहीं आता।"

"अमित, तुम समझते हो, मैं वह जानती नहीं हूं ? पति से और मैंने क्या जाना है। उस दले और मसले जाने से मुझे डर नहीं है। कौन जाने कि चाहना ही हो। लेकिन, अमित, मेरे प्रिय, वह जो ऐसा नही होने देता है, उससे बड़ा है। वह जीतता है, क्योंकि सब जीत उसमें है। और वह तुममें है। इसीलिए मैं हर दावों से ऊपर तुम्हारी हूं। और तुम्हारे निकट सदा अभय हूं। मुझसे ज्यादे यह तुम जानते हो...सागर मर्यादा नहीं तोड़ सकता है। इस सम्बन्ध में वह विवश इसलिए है, कि वह सागर है। तुम भी विवश इसलिए हो कि तुममें प्यार है। तुमने कभी चाहा नहीं, लेकिन हर क्षण तुम्हारे आगे मैं प्रगट रही हूं और हो सकती हूं। लेकिन उस नग्न प्रगटता का तुम्हारे निकट कोई उपयोग न हो सकेगा। यह जानती हूं, इसलिए पति को बिना खबर दिये भी तुम्हारे पास चली आती हूं। क्योंकि इस प्यार का सत्त जो मुझे तुमसे मिलता है, उसके बल से पति के निकट कभी मैं झूठ नहीं पड़ सकती।

"फिर बकवास !..."

"अमित, एक बात कहने को जी चाहता है। पर, पहले आओ, जरा मेरी गोदी में लेट जाओ। सिर तुम्हारा सदाऊंचा रहता है और उसके बाल मुझे बड़े अच्छे लगते हैं। मैं उनमें रेत डालना चाहती हूं।" और सचमुच उसने खींचकर अमित को गोद में लिटा लिया, और बराबर से मुट्ठी में रेत भरकर धीरे-धीरे उन बालों में भुरकने लगी। जैसे बालों में बीथी बनाकर तेल दिया जाता है, वैसे ही वह कोई उनमें धीरे-धीरे रेत छोड़ने लगी।

शिशु की तरह मग्न भाव से अमित यह सब सहता ही नहीं रहा, बल्कि धन्य भाव से अपनाता चला गया। अमिता और उसकी उंगलियाँ धीरे-धीरे घूमकर सारे बालों में उस रेत को बखेरती चली जाती थीं। वह कह रही थी—"अमित, तुम्हारे चरित्र की महिमा है। शहर भर में महिमा है। महिमा को लोग काली और कलंकित ही अधिक कहते हैं। मैं उसी आकर्षण से अपनी तरफ से चलकर तुम्हारा परिचय लेने आ गयी थी। इस बात को कितने वर्ष हो गये? कम-अधिक आठ वर्ष तो हो ही गये। इस बीच क्या मैं यह मान लूं कि तुम्हारे जीवन में नारियाँ नहीं आयीं? एक मैं ही फिर अक्षत क्यों बनी रही?" हंसकर बोली—"नहीं, शिकायत नहीं करती हूं। तुम्हारी प्रशंसा भी नहीं करती हूं। पौरुष का जोर अगर तुमने नहीं आजमाया, तो इसमें प्रशंसा की बात भी क्या है? आजमाते तो क्या होता, मैं नहीं जानती। लेकिन तब क्या हमारे बीच में यह अभय हो सकता?...जिसने तुम्हारे सारे पौरुष के बल को कसमसाता हुआ एक तरफ छोड़ दिया, उसकी स्पर्द्धा नहीं की, आशंका नहीं की, चिंता भी नहीं की; जिसके आगे वह सारा दुर्दम बल ठिठका-सा ही रह गया, कि जैसे कोई मन्त्र-कीलित दानव हो—उसको मैं तुम मैं पहचान गयी थी। परिचय के पहले ही अवसर पर मैंने वह पा लिया था। इससे मैं बार-बार चाहे तुम्हारे पास नहीं भी आयी, लेकिन जब आयी निःशंक बनकर आयी। और अब चाहे फिर कभी दुबारा तुमसे साक्षात्कार न भी कर सकूँ, लेकिन इस क्षण तुमसे कहती हूं कि मैं पूरी तौर पर और हमेशा-हमेशा उस प्यार की हूं, जो तुममें है।"

अमित ने लेटे-लेटे उसके सिर के बालों में घूमती हुई उंगलियों वाले हाथ को पकड़ लिया। कहा—"फिर बकवास! मेरी कसम, जो आगे तैंने कुछ कहा।"

"नहीं, कुछ कहने को नहीं है।" और वह हाथ को छुड़ाकर उसी तरह उन बालों में किरकते रेत के कणों के ऊपर अपनी उंगलियाँ फेरने

लगी। बोली—"यही वह सत्व है, यहीं शक्ति है जिससे मेरी गृहस्थी फलती-फूलती रहेगी। और मेरा यज्ञ परिवार की जड़ों को सफलता में गहरे-से-गहरा ले जायगा। तुम न समझोगे! पर सती और किसे कहते हैं।" अमित एकदम उठ बैठा। बोला—"बक मत। आयी बड़ी सती। सती और मेरे पास!"

और अमित कहकर ऐसा अट्टहास करके हंस उठा कि दूर-पास के लोग भी उसकी ओर देख उठे। अमिता उसी निर्मल हास्य में नहाती रही। बोली—"न सही, पुंश्चली ही सही। अब तो तुम्हारा मन अपनी महिमा से भरा?"

अमित बोला—"यह ठीक है। अब हुई न बात। इसके बाद तू कभी... कभी...कभी भी मेरे पास न आये, तो भी क्या बुरा है? दाग़ तो मेरा लग ही गया।"

"हाँ, हाँ...लग गया, लग गया। सौ बार लग गया। अब मुझे घर छोड़ के नहीं आओगे। या चुरा के यहीं का यहीं रख लेने का इरादा है?"

"अरे अपना माल है, फिर चुराना किसको है? और अपना है तो फिर कहीं रहे, है तो अपना ही। तो चल, पहुंचा आऊं।"

"सुनो तुम अपने-आप गोद में से उठते नहीं, तो यहाँ बैठे जनम-जनम चाहे गुज़र जाते, मैं तुम्हें उठानेवाली नहीं थी। जुहू की सारी रेत तुम्हारे सिर पर थोप कर मानती।"

"चल, चल। आयी बड़ी वह......बकवास कर-कर के मेरा सिर तो खाये जा रही थी। बचता ही सिर वह कहाँ, कि रेत-वेत की बात कर रही है। नहीं बाबा, वह सब सहने वाला में न था। चल, अब सीधी तरह घर चली चल। फिर तुझे छुट्टी और मुझे छुट्टी।"

अमिता ने सुना और चुप बैठी रही। उसके अन्दर कृतार्थता की हिलोर भीतर से उठकर रोम-रोम में व्याप गयी। और वह बोली नहीं।

अमित ने कहा—"अमिया, तुम चुप क्यों हो गयी?"

क्या बताती अमिया। भर जाए तो घट को क्या बताने को रह जाता है। वही हाल अमिया का था। अब शब्द सब उसमें भर गये, पुर गये थे।

अक्टूबर' १९६१

मृत्युदण्ड

तीन आदमियों की बैंच थी और तीनों अपनी स्थिति पर प्रसन्न न थे। कमांडेट और ब्रिगेडियर तो प्रगटतः अनमने थे। उन्हें नहीं पसन्द था कि इस तरह के कामों में उन्हें खींचा जाए। लेकिन कर्त्तव्य कर्त्तव्य होता है और बिचारे बलिदान की वेदी पर हों, मानो यह भाव उनके चेहरे पर लिखा था। तीसरे थे कर्नल—जिनके चेहरे पर दिलचस्पी थी और वह तत्पर दीखना चाह रहे थे।

मुलज़िम को बुलाया गया और वह फौज़ी सलाम करके मेज़ के सामने खड़ा हो गया। तीस वर्ष की अवस्था होगी, चेहरे पर उद्दण्ड की जगह सौम्य भाव था। युवक कुलीन मालूम होता था। दृष्टि में व्यग्रता न थी, न भय। बल्कि जैसे वहाँ परिहास का तनिक आभास हो।

ब्रिगेडियर चुप बैठे थे और मोटा सिगार उनके मुंह में था। वह साथियों की गपशप में भाग न ले रहे थे। अजब आदमी थे। संजीाद साथ ही चुहलबाज अपने ढंग के दार्शनिक थे, पर विनोदी बातों में उन्हें रस था और मौन में भी मजा ले सकते थे। मानो उन्हें उत्तीर्ण रहना पसन्द था।

बोले—ओह ! तुम तो लड़के मालूम होते हो ! बैठना चाहोगे ?

"धन्यवाद।" युवक ने नमितभाव से कहा—"मुल्जिम को खड़ा ही रहना चाहिये।"

ब्रिगेडियर को अच्छा लगा। कहा—कानून की किताब में यह आदेश मैंने नहीं देखा।

"तो औचित्य में मान लीजिए—यदि आज्ञोल्लंघन न हो।"

ब्रिगेडियर को और भी अच्छा लगा। लेकिन अब उन्हें कुछ ध्यान आया और वह सहसा कस आये। बोले—ज़रूरत से ज़्यादे तो कहीं नहीं पढ़े तुम ? जवान आदमी हो, समझदार दीखते हो।···हमारे यहाँ अदालत खिचती नहीं है, फैसला फौरन होता है और फौरन अमल होता है। कोर्ट है, लेकिन मारशल है। तुम यह समझते हो और यह भी जानते होंगे कि हत्या का क्या नतीजा होता है। क्या तुमको जान प्यारी नहीं है ?···मैं पूछता हूं, जान प्यारी नहीं है ?···

"जी, मैं मरना नहीं चाहता।"···

ब्रिगेडियर ने कहा—बेशक, तुम जाना चाह सकते हो। लेकिन तुमने नहीं चाहा। मौत यहाँ मँहगी नहीं होती। जरा चाहने से ही मिल सकती है। जानते हो न कि तुमने क्या किया है ? उस आदमी की जान ली है, जो रतन था ! ली है न ?"

"जी।"

कैसे बोलते हो ! क्या यह चाहते हो कि गवाह न आएँ और जुर्म मान लिया जाए ?

"जी ! गवाहों की ज़रूरत नहीं है। मैं जुर्म का इकबाल करता हूं।"

ब्रिगेडियर ने कमर सीधी की, सिर पीछे किया, कहा—कार्रवाई बढ़ाई जाए। कहकर उन्होंने चुरुट मुंह में लिया और कश खींचा।

कमांडेंट आदेश पर बढ़े और उन्होंने विधिवत् कार्रवाई को हाथ में लिया। दो गवाहियाँ हुईं। दोनों प्रत्यक्षदर्शी थे। मुल्जिम ने कोई उनसे जिरह न की। उसने एक ही बात दुहराई कि उसने कत्ल किया है और सबूत वह खुद पेश कर सकता है। गवाहों को उसने मुस्कराकर पहचाना। मानो वह उन्हें माफ करना चाहता हो।

अन्त में कर्नल की बारी आई और उन्होंने बात को अपने हाथ में लिया। यह पैंतालिस वर्ष के व्यक्ति बहुत सुघरे और सुती देह के थे। हाव-भाव से लगता था कि वह व्यर्थता को पहचान गए हैं और जीवन के सार-भाग को अपने हाथ में कर पाए हैं।

"तुमने कत्ल किया ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि इरादा था।"

"इरादा क्यों बना ?"

"इरादे क्यों बनते हैं ?"

"बे अदबी नहीं, जवाब दो।"

"इरादे पूछ कर नहीं बना करते।"

"किसी को मारने का हक नहीं आता है। सबका जीने का हक है। तुम यह जानते हो ?"

"जी नहीं। सबको जीने का हक नहीं है।" लोगों के चौंकने की चिंता न करते हुए उसने कहना जारी रखा। "यहाँ आप बैठे हैं तो सिर्फ इस हक को अदा करने के लिए कि जरूरत पर किसी को मौत तक की सज़ा दे सकें। मेरा जीना आपके हक के आगे खत्म हो जाएगा। मुझे इसमें एतराज़ नहीं है और आप अपना काम करें।"

कर्नल ने डंडे को मेज़ पर पटककर कहा—आर्डर, आर्डर! सवाल तक रहो। कत्ल का इरादा क्यों किया ?

"वह जरूरी मालूम होता था।"

"कत्ल जरूरी मालूम होता था ?"

"जी!"

"लेकिन यह जुर्म है।"

"जानता हूं।"

"सजा भी जानते हो ?"

"जानता हूं।"

बीच में ब्रिगेडियर ने कहा—तो हम तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते ?

"आप सब कर सकते हैं। मौत की सजा दे सकते हैं और आप तक उसका इलजाम लौटकर नहीं आएगा!"

ब्रिगेडियर ने मुंह से चुरुट निकाला और अलग एक तरफ रख दिया। अब कोर्ट की बागडोर जैसे उन्होंने अपने हाथ में ले ली। बोले—सुनो

लड़के ! हम सब कानून में हैं । सब-की-सब कायनात कानून में है । मन के मुताबिक हम नहीं चल सकते, कोई नहीं चल सकता । हम यहाँ तीन आदमी मशवरे के लिए बैठे है । हमारी मदद के लिए कानून की किताबें हैं । मैं चाह सकता हूं कि तुमको छोड़ दूं । लेकिन वह हक की बात नहीं है । इसलिए···फैसला साफ है । परमात्मा की तरफ से साफ है । हम मरना नहीं चाहते मरते हैं । कुछ होकर जीना चाहते हैं, न कुछ होकर जीना पड़ता है । क्योंकि कुछ है जो है, वह रहता है, हम आते-जाते हैं । हम जीते जाते हैं और हमारी तबियत और ख्वाहिशें मरती जाती हैं । क्योंकि हम जीने के शिकार हैं, अपने जीने के मालिक नहीं हैं । तुम्हारी नई उम्र है । मुनासिब होता यह कि तुम पर दया की जाए । लेकिन क्या कोई दया कर सकता है ? अपने तक पर हम दया नहीं कर सकते ।···लेकिन लड़के मालूम होता है तुम कुछ कहना चाहते हो । तुम्हें उसका वक्त मिलेगा । मैं यह पसन्द नहीं करता कि आदमी मन की कह न पाये और उसे जाना पड़ जाए । करने पर पाबन्दी है, क्योंकि उसका ताल्लुक दूसरे से है । कहना और चीज है, वह अपना हो सकता है । इसलिए बच्चे, मैं चाहता हूं कि तुम जो हो कहो । फैसला सुनाया जाएगा जब सुनाया जायगा । उसकी जल्दी नहीं है । जल्दी इसलिए भी नहीं कि वह सबको मालूम है । तुमने उसे और साफ कर दिया है । नई उम्र है, एक लम्बी ज़िंदगी तुम्हारे सामने पड़ी है और तुम बड़ी खुशी से गिड़गिड़ाकर अपनी बाकी ज़िंदगी मांग सकते थे । वह चीज़ शायद तुमको पसन्द नहीं आई । उससे जो होता वह यह कि दूसरे को मौका देते । तुम ऐसे दूसरे को कबूल करते । माना जाता है कि जिन्दगी का यही गुर है । लोग अपना तो सिर ख़म करते और दूसरे का सिर उठा देते हैं और इस तरह अपना रास्ता बना ले जाते हैं । रास्ता वह तुम्हारे लिए भी खुला था, खुला है । लेकिन तुम नए हो और बहुत-सी चीजें नहीं जानते हो । और कुछ उन चीजों को जानते हो जो जानने के लिए नहीं हैं । इतनी उम्र हो गई है और मेरा उस बला से वास्ता नहीं पड़ा है जो आदमी से बेवकूफी कराती ही नहीं जाती है बल्कि उस पर ज़िद बाँधने को कहती है । एक लफ्ज़ हुआ करता था आइडि-

अल। हुआ करता इसलिए कहता हूं कि अब दुनिया आगे बढ़ रही हैं और समझदारी बढ़ रही है। इतनी उम्र में तरह-तरह के पत्थर ज़रूर मिले हैं जिन्हें रतन और हीरे कहते हैं पर आइडिअल कोई किसी शकल में कभी नहीं मिला। ठगे गये हैं वे जो उस फेर में पड़े हैं। तुम्हारी हिन्दी में उसे मरीचिका कहते हैं शायद। उसमें से क्या कभी किसी को पानी मिला है। मिली है तो मौत मिली है। वक्त पर उधर से मुंह मोड़ ले कोइ तो शायद निस्तार भी है, फिर पाँव टिक जाता है। नहीं तो अधर में भागने के सिवा कुछ मयस्सर नहीं है और आदमी को खाली हाथ रहकर दम तोड़ देना पड़ता है। ओह...आर्डर...आर्डर !" और उसने मेज पर रखी हुई हथोड़ी को मेज पर ठोंकते हुए कहा,—"हाँ, मुल्जिम इकबाल करता है कि उसने कत्ल किया है और कत्ल साबित है। अगरचे कानून की बात नहीं, मगर बड़े अफसोस की बात है कि जिसका कत्ल किया गया वह हमारी फौज का एक रुकन था। वह हर-दिल अजीज था और हर मौके पर आगे रहनेवाला दिलेर आदमी था। लेकिन वह जुदा सवाल है।...मैं मौका देना चाहता हूँ कि मुल्जिम जो कहना चाहे कहे...हमलोग सजा सुनानेवाले हो सकते हैं, सज़ा भुगतनी उसको है। जान की कीमत पर उसे सजा बहाल रखना है। इसलिए उसे पूरा और हर किसम का मौका मिलना चाहिए...हाँ, बंटे, कहो।"
कर्नल और कमांडेंट ने ब्रिगेडियर की तरफ देखा। ऐसे देखा कि अदा-लत में कोई किसी का बेटा नहीं होता और बना बैठना बेजा है।
मुल्जिम ने ब्रिगेडियर के स्वर को सुना। वह कुछ कहना नहीं चाहता था। मरने के बारे में उसने बिल्कुल नहीं सोचा था। मरना क्या होता है, उसका ख्याल इन मर्दों पर गया ही न था। उसका सारा वास्ता जीने से रहा। वह जीना चाहता था, जीते रहना चाहता था। जीना एक बेशकीमत दौलत है। लेकिन जिस की वजह से वह दौलत है उसके बिना भी जीना उसकी समझ में नहीं आता है। इज्ज़त के साथ और असूल के साथ जीना हुआ करता है। इसके बिना वह कैसे हो सकता है, यही

उसको मालूम न था। इस-लिए मौत का डर उसे होता न था। मौत का ख्याल उसे एकदम दूर और अजनबी था। लेकिन ब्रिगेडियर का स्वर उसे हिला गया। वह मुस्कराता हुआ, सिर सीधा रखकर, सफाई में बिना एक शब्द कहे मजे में सजा अपने ऊपर ले सकता था। लेकिन अब उसने कहा—"मैं कुछ कहना नहीं चाहता था। जुर्म किया है और वह साबित है। उसमें कहने को क्या रह जाता है। यह भी साफ है कि मैंने कत्ल इरादे से किया। वह हक नहीं है और फौजी कानून की तरफ से मेरे कत्ल का हक आपको आए तो यह सही बात है। आप मुझे नफरत नहीं करते। शायद मोहब्बत भी कर सकते हैं। इसलिए आपकी तरफ से दी गई मौत मेरा न्याय कहलाएगी। मुझे मंजूर करना चाहिए कि मुझमें उस शख्श के लिए नफरत हुई थी। गुस्सा भी आया था। फौरी गुस्से में भी यह काम नहीं हुआ। जिस वक्त मुझसे यह काम हुआ अकल पूरी तरह मेरा साथ दे रही थी। इसलिए अगर कहा जाए कि वह न्याय नहीं अन्याय था, तो में इसका जवाब नहीं दे सकता हूं। न्याय ठंडे दिमाग से किया जा सकता होगा। लेकिन मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या एकदम ठंडे होकर कुछ किया जा सकता है? धरती के अन्दर आग न रह जाय तो वह टिक सकती है? इन्सान के अन्दर दिल न रह जाए तो वह जी सकता है? दिल में हिस् होती है। कुछ होता है, जिसके लिए जीते हैं और जिसके लिए जीना तर्क भी कर सकते हैं।

"हम-आप सिपाही हैं। मैं मामूली हूं, आप ओहदे पर हैं। लेकिन हम सब इसलिए हैं कि मौत को अपने हाथ में रखें और वक्त आए और हुकुम हो तो फर्ज की अदायगी के तौर पर उस मौत को दुश्मन पर डाल फेंके। कौन दुश्मन है, यह हमारे लिए तय रहता है। दुश्मनी मुझे अपने अन्दर महसूस नहीं करनी पड़ती, वह हमको बनी-बनाई दे दी जाती हैं। दुश्मन मुल्क होता है और मुल्क का होता है। यानी करोड़ों-करोड़ आदमियों को एक साथ वह दुश्मनी हासिल हो जाती है और उस हक पर हम फौजी लोग मौत के हथियारों से लैस होकर एक-दूसरे को मौत का

तोहफा देने के लिए आगे बढ़ते चले जाते हैं। यह हमारा काम है जिसे हम हक कह सकते हैं।

"वहाँ से मैं सीखा हूँ कि मौत दी भी जा सकती है और भगवान के काम को अपने हाथ में लिया जा सकता है। लोग कहते हैं जोकि जान दे नहीं सकता वह ले कैसे सकता है। कहा सच में जाता है क्योंकि सारे आदमी मिलकर भी एक नई जान पैदा नहीं कर सकते। वह भगवान् से आई मानी जाती है। लेकिन सिपाही अपनी जान देने की तैयारी के एवज में मानो दूसरे की जान लेने का हक कमा लेता है। क्या यह नहीं हो सकता कि अगर मैं आपके हाथों मौत की सज़ा लेने को तैयार हूं तो कम से कम एक की जान पहले ले लेने का हक़ तो पा ही जाता हूं!

"यह कानून की गिनती और हिसाब की बात हुई।···फिर मेरी शादी नहीं हुई। कोई माँ-बाप मेरी कमाई पर निर्भर नहीं हैं। मेरी जान मेरी है। उसे खोऊँ या दे डालूं तो इसका हिसाब मुझे कहीं पहुँचाना नहीं है। आप खुशी से सज़ा दीजिए। आप देखेंगे कि मैं उसी खुशी से उसे बहाल करता हूँ।

"आदमी किसलिए जीता है? हम सिपाहियों के लिए कई शर्तें हैं जीने की। मकसद सबका साफ है। देश की तरफ हमारा फर्ज़ है और देश के दुश्मन के मुकाबले के लिए हम जीते हैं। तनख्वाह हमको मिलती है और उससे वफादारी पैदा होती है। रहते-रहते और कवायद करते-करते यह भी हमने सीख लिया है कि जिस जमात के हम सदस्य हैं उस जमात की शिस्त के लिए, उनकी निगाहों में चढ़े रहने के लिए हमें रहना चाहिए। उस सब के बाद और उस सब के अन्दर हम अपने मजे के लिए रहते हैं। कोइ इसे ग़लत कह सकता है?

"मैं आपसे पूछता हूं कि मज़ा क्या है? वह अपने साथ है या दूसरे की राय पर मौकूफ है। मजे को मालूम कीजिएगा तो पता चलेगा कि उसके खातिर एक इन्सान के लिए सारी कायनात महज़ एक चीज़ बन जाती है।

"आप मुझसे जानना चाहते हैं और मैं कहता हूं कि वह आदमी जो अब नहीं है, और जिसको आप सब लोग याद करते हैं, शुरू से मेरी निगाह में चढ़ गया था। आते ही मैंने देखा कि कि वह हम सबमें तेज़ है। बहादुर है और लापरवाह है। जिस तौर पर ज़िन्दगी के साथ वह खेल सकता है वैसा दूसरा नहीं खेल सकता। मानना होगा कि शुरू से मेरे मन में कुछ डाह पैदा हो गई थी। लेकिन इज्ज़त उससे ज्यादे थी।

"आप सब जानते हैं मैं सिपाही था, वह अफसर था। इस नाते हम दोनों में एक रिश्ता पैदा हुआ जो घना ही होता चला गया। मेरी तरफ क्या भाव उनमें काम कर रहा था मैं कह नहीं सकता। उनका स्नेह बढ़ता ही गया और उनके बहुत से गुण मुझ पर प्रकट हुए। लेकिन धीरे-धीरे अभिन्नता इतनी बढ़ी कि हममें कोई दुराव नहीं रह गया और तब कुछ वो पहलू मेरे सामने आए जो मेरे लिए असह्य होते चले गये।
"क्या मुझमें ईर्ष्या थी ? शायद थी। लेकिन उसे मैं जीत सकता था। मैं सिर्फ चाहता था कि उनका प्रेम साधारण हो। लेकिन वह असाधारण था।...छोड़िये, उन सब बातों में मैं नहीं जाऊँगा। वे निजी हैं और आपके काम से उनका वास्ता नहीं है। इस खबर से क्या मतलब निक-लेगा कि मेरे मनमें कैसे यह भाव बढ़ता गया कि मैं हत्या करूँ ? आपको जुर्म से काम है। आज यहाँ खड़ा होकर मैं आपसे यह भी कह रहा हूँ मुझे उस पर अफसोस नहीं है। मेरे मन में अब भी उस व्यक्तित्व की सराहना है और मैं उसकी याद पर बार-बार अपनी कृतज्ञता भेंट किया करता हूं। लेकिन वह अलग बात है।—जो काम की है वह सिर्फ इतनी है कि आप मुझसे क्या सलूक किया चाहते हैं।

"इन दिनों में मुझे कुछ अतिरिक्त सोचने का मौका मिला है। हिरासत में खाली रहा हूं और अगर पागल नहीं हो गया तो इसी वजह से कि सोचता रह गया। सोचता यह रहा कि इस दुनिया में से क्या आदमी को नफी नहीं किया जा सकता है ? परमेश्वर अगर कोई हो तो उसने हमारे बीच मौत सिरजी है. फिर आदमी की बुद्धि ने शुरू से हथियारों का

निर्माण किया है। मानो आदमी के विकास की नाप इसी सफलता से होती रही है। पहले निरे पत्थर के औज़ार, फिर लोहे की बर्छी वगैरह, फिर तीर कमान, और इस तरह विकास करते-करते हम अणु-अस्त्र तक आ गये हैं। उन्नति का अगले-से-अगला बिन्दु मानो उस अस्त्र की नौक है जो आधुनिक माना जाता है। अर्थात् जान लेने की आदत हममें बहुत पुरानी है। सच्चाइयों के दो दावों में अगर बहस हो तो सिवा इसके निर्णय का कोई उपाय नहीं है कि दोनों लड़ें, जो जीते उसका सच जीता और बड़ा माना जाए।

"युद्ध बड़ा रोजगार है। उसके लिए हम जीते और वेतन पाते हैं। सबसे आन और मान का काम वह बना हुआ है। दो विभुओं में फैसला न हो तो युद्ध के न्याय से निपटारा होगा। यानी असत् को हटाने का तरीका आदमी को हटा देना है। युद्ध सत् के लिए ही किया जाता है। लडने वाले दोनों अपनी-अपनी तरफ हक्क़ न देखें तो वे लड़ें किस बल पर? लड़ाई इस अधिकार के सिवा क्या है कि हम दूसरे सैकड़ों-हजारों को मौत के घाट उतारकर सत्य, हक और न्याय का रास्ता साफ करते हैं। युद्ध की प्रभु-सत्ता के अधिकार इसलिए प्रत्येक देश अपने हाथ में रखता है। जिसे सरकार कहते हैं वह उसी अधिकार को अमल में लाने के यन्त्र के सिवा क्या है?

अब प्रश्न रहता है कि वह अधिकार विधान-सम्मत कानून से राज्य के पास ही रह सकता है, दूसरे किसी के पास नहीं? केवल इतने से अन्तर को मैं स्वीकार करता हूं, इस अर्थ में कि आपकी सजा मैं मान्य करूँगा। मगर उससे आगे मैं नहीं जा सकता, यानी अपने को गलत नहीं मान सकता।

"जिस आदमी को मैंने हटाया, उसको हम भद्र मानते हैं। लेकिन··· लेकिन मैं आपको बता नहीं सकता। उसके बाद कुछ और नहीं हो सकता था, सिवा इसके कि उसे खत्म कर दिया जाय। फिर भी मौका दिया कि पहले वह वार करे। उसने शायद अभिमान में वैसा नहीं किया और उसे

मरना पड़ा। हो सकता था कि मरनेवाला मैं होता, मारने वाला वह होता। लेकिन छोड़िये…"

ब्रिगेडियर, मालूम होता था, सुन नहीं रहा है। वह चुरुट खींचे जा रहा था। उसका ध्यान अन्यत्र मालूम होता था। कप्तान के चुप होते ही उसने आराम से चुरुट अलग की, उसे बुझाया और पूछा—विवाह तो नहीं हुआ न तुम्हारा? हाँ, अब कह सकते हो।"

"जी?"

"तत्त्व की लंतरानी छोड़ो। कुछ कह सकते हो जो संगत हो, जो रोशनी दे?"

"जी नहीं।"

"तो तुमने खत्म किया?"

"जी—"

"अच्छा—"

और ब्रिगेडियर ने संकेत किया। कुछ देर में पीछे के दरवाजे से मृत मेजर की पत्नी ने प्रवेश किया। उन्हें अभ्यर्थना के साथ कुर्सी पेश की गई। फिर उनसे पूछा गया—मुल्जिम को आप जानती हैं?

"जानती हूं।"

"कब से जानती हैं?"

"चार वर्ष से।"

"मुलज़िम इकबाल करता है कि उसने आपके पति को मारा है। इस बारे में आप कुछ रोशनी डाल सकती हैं?"

"जानती हूं, वजह मैं हूं।"

"ईर्ष्या में खून किया गया?"

"नहीं।"

"प्रेम में?"

"हाँ, एक तरह।"

"क्या आप साफ बता सकेंगी?"

"प्रेम नहीं, बल्कि आन और ज़िद कहना चाहिए। पति को अधिकार है, या अधिकार जैसा कुछ होता ही नहीं है, इस पर दोनों में बहस हो जाया करती थी, मैं पत्नी थी लेकिन मुझ पर किसी का अधिकार जैसा कुछ हो सकता है, यह इस आदमी को समझ नहीं आता था। इसलिए बर्दाश्त नहीं होता था। मैं इस भाव को नापसन्द करती थी। पति का जितना पक्ष मैं करती उतना यह अपने बारे में और दृढ़ होता जाता था। इसको लगता कि मैं पति के हर अधिकार को स्वीकार करती दीखती हूँ, तो आदर्श और कर्तव्य के नाते। यानी अपने व्यक्तित्व और नारीत्व को इन्कार करके ही वह स्वीकार करती हूं। मैं उसकी इस बात पर हँस देती थी। वह उत्तेजित हो जाता था। फिर···"

कहती-कहती वह चुप हो गई। जब कुछ देर चुप्पी बनी ही रही और वह टूटी नहीं तो ब्रिगेडियर ने कहा—"फिर ?···

"नहीं, आगे कुछ मैं नहीं कह सकती।"

"लेकिन···लेकिन क्यों ?"

उसने हाथों में मुंह ले लिया। कहा—"नहीं, आगे कुछ नहीं।"

"सोच लीजिए। आगे कुछ न कहना चाहें तो आपकी मर्जी है। लेकिन अगर उत्तेजना का काफी कारण मिल जाता है तो जरूरी नहीं कि इस कप्तान को फिर शूट ही किया जाये। सोच लीजिये।"

"आपके काम से मुझे सम्बन्ध नही है !···मैं जा सकती हूं ?"

ब्रिगेडियर ने मिलिट्री काउन्सिल के अपने साथियों की तरफ देखा। फिर कहा—क्षमा कीजिएगा। कुछ प्रश्नों का जवाब दे सकेंगी ?···घटना से कितने दिन पहले आप तीनों की अन्तिम बात-चीत हुई ?

पत्नी ने ब्रिगडियर का न्सिल की तरफ देखा। जैसे समझा न हो और वह चुप रहीं।

"अन्तिम···सिर्फ आखिरी बार···और मुलाकातों का सवाल नहीं,···कब मिलना हुआ था ?"

"तीन दिन पहले ।"

"घर में और कोई नहीं था ?"

"नौकर-चाकर सब थे।"

"सब थे ?—लेकिन कमरे में ?"

"कोई और नहीं था।"

"आप लोगों ने चाय-पानी किया फिर बात-चीत हुई। लौटे कब ?"

"मैं कह नहीं सकती ।"

"याद कीजिये।"

"शाम···रात को लौटे हो सकते हैं ।"

"आए दिन में थे ? यही कोई तीसरा पहर ?"

"जी ।"

"निमन्त्रण आपने दिया था ?"

"उन्होंने दिया था।"

"ठीक, उन्होंने दिया था। हो सकता है आपको कहा हो याद करा देना, और फोन उनकी तरफ से आपने भी किया हो।"

"मुझे याद नहीं।"

"छोड़िये—तो वह निमन्त्रण पर आये थे और आप में पति के अधिकार पर बात हुई थी।"

"अधिकार न हो तो विवाह का मतलब क्या रह जाता है ?"

"जी हाँ, जी हाँ। विवाह का मतलब कुछ नहीं रह जाता और अधिकार पर प्रश्न नहीं उठ सकता। जो उठाता है, वह समझता नहीं है। जी हाँ विवाह यदि अधिकार नहीं, तो है क्या ? कर्त्तव्य है ? जो भी कर्त्तव्य में तो अधिकार आता है।···तो आप अधिकार मानती थीं और पति अधिकार मानते थे। तीसरे व्यक्ति यदि नहीं मानते थे तो यह स्वयं अनधिकृत बात थी न ?"

"जी नहीं। अनधिकृत तो नहीं। निमन्त्रण था और बात में दो पक्ष होते ही हैं।"

"जी हाँ, पक्ष होते हैं। अवश्य होते हैं और होने चाहिए। और तत्व का प्रश्न हो तो चर्चा हो ही सकती है। फिर जहाँ तक जाए वह कम है। आखिर तत्व गहरी चीज है और उसकी थाह का अन्त नहीं है। लेकिन···लेकिन चर्चा का अन्त तो असली सबूत से आ सकता है। क्यों, नहीं ?"

पत्नी ने बेंच के दूसरे सदस्यों की तरफ देखा। उनका चेहरा नम्र था और उस पर सहानुभूति थी। उसमें कहीं अभिसन्धि का भास न था। फिर भी उस दृष्टि से उसे आश्वासन न होता था। उल्टे आशंका होती थी। बोली—आपका क्या आशय है ?

"आशय ? आशय क्या, बात सीधी है। हम बहस करते हैं कि यह पीतल है या सोना। बहस का बताइए यों अन्त आ सकता है ? लेकिन लीजिए कसौटी और अन्त आया रखा है। आखिर यह तो तीसरे थे। अधिकार में इनका क्या अधिकार था ? इसलिये आप दोनों इन्हें बाहर भी कर सकते थे। निजी सम्बन्धों में तीसरा बाहर रहता ही है। लेकिन उसी से अधिकार को चुनौती मिले तो···चुनौती को क्या उत्तर मिल सकता है ? प्रश्न को किस रूप में जवाब मिल सकता है ?"

"आप क्या कहना चाहते हैं ?" और पत्नी ने ऊंची कुर्सी पर बैठे कर्नल की ओर देखकर कहा—"मैं अपने समय का अब अपव्यय नहीं चाहती, मुझे छुट्टी मिल सकती है ?"

"जी हाँ, अवश्य और जब चाहे।" ब्रिगेडिअर ने कहा और कर्नल को ताकीद की निगाह से देखा। फिर पूछा—"आप कितनी देर उन्हें और रोकना चाहते हैं ?"

"जी नहीं, बिलकुल नहीं। पति के पत्नी पर अधिकार के दर्शन या उसके प्रदर्शन का प्रश्न नहीं उठता। क्यों श्रीमती जी, मैं ठीक कहता हूं। और वही प्रश्न उठाया गया। यह धृष्टता सही गई और कई घण्टों तक उसको उत्तेजन मिलता गया और···क्या आप जाना चाहेंगी ?"

"जी।"

ब्रिगेडियर ने बात को हाथ में लेकर कहा, "तो कल के लिए हम स्थगित रख सकते हैं। आज बस।"

"जी नहीं। मैं अब न आ सकूंगी।"

"कोई बात नहीं, जल्दी क्या है। जब आपकी तबियत सम्भल जाय तब पांच, सात, दस रोज़, जब आप चाहें।"

ब्रिगेडिअर ने चुरुट उठा लिया और उसे सुलगाया। कहा—"अब हम बन्द करेंगे। (कर्नल की ओर) मैं नहीं समझता था कि तुम्हें और क्या पूछना है? हम गंद में नहीं जाना चाहते। तुम्हारी नाक की में तारीफ नहीं करूंगा और अब तुम्हें खत्म करना चाहिये।···मैं समझता हूं श्रीमती जी कि अब आप को कष्ट नहीं दिया जाएगा। जहाँ तक मैं समझता हूं यह कानून के आदमी हैं और उस संस्था की तरफ से मैं आपसे माफी चाहता हूं। आपने अपना पति चाहे खोया, लेकिन कानून के लिए हमदर्दी का सवाल नहीं होता है। कानून समझता है कि उसका ऊंचा फर्ज है और जुर्म की जड़ पाना उसका काम है। जुर्म की जड़··· कहाँ है, कहाँ नहीं है? अपने में है, या बाहर है? यह सब जाँच पड़ताल कानून के बस की चीज नहीं है। फिर भी वह है कि अपने को सब कुछ मान सकता है···आप जा सकती हैं।"

पत्नी उठकर चली गई। ब्रिगेडिअर ने अब कहा—"देखो दोस्त। तुम अफ़सर हो और जवान हो। कोई तुम्हारा जामिन हो सकता है?"

मुल्जिम ने मुस्करा कर कहा—"आप भी सोचते हैं, मैं भाग सकता हूं?"

"सोचने में क्या हर्ज है?" ब्रिगेडिअर ने कहा।

बराबर से एक आफ़िसर सामने आया।

पूछा गया—"आप क्या चाहते हैं?

"मैं कैप्टन का जामिन हो सकता हूं।"

"नहीं। मैं वह नहीं चाहता। आप लोग सब थोड़ी देर के लिए जा सकते हैं। मुल्जिम यहीं रहेगा।"

कर्नल ने कहा—"सर !"

ब्रिगेडियर हिन्दुस्तानी में बोले—त्रह तो है, लेकिन ग्राप भी जा सकते हैं।

कमरा खाली होने पर ब्रिगेडियर ने कैप्टन को कुर्सी पर बैठने का कहा ग्रौर बोला—तुमने ग्रादमी को नहीं मारा, कुत्ते को मारा है। यही कहना चाहते हो न ?

"जी नहीं। "कुत्ते में हया होती है।"

ब्रिगेडियर ग्रो-ग्रो-हो करके हंस पड़े बोले—"खूब कहा। कुत्ते को नहीं, शैतान को मारा है क्यों ?"

"जी।"

"मैं समझता हूं। पर मारा क्यों ?"

"क्या करता ?"

"मुझसे कहते।"

"ग्राप क्या करते ?"

"मैं ? कुछ तो कर ही सकता था।"

"बीवी को उससे नजात मिल जाती ?"

"ग्रोह ! तो तुम नजात देने निकले थे ?"

"जी नहीं। वह कुत्ता, पाजी, हरामी।"

"क्या शादी के ख्वाब हैं ?"

"य' ग्राप क्या कह रहे हैं ?"

"कुछ नहीं। जाने दो।···यह नहीं सोच सके तुम कि ग्रौरत को बेवा बना रहे हो। तुम लोगों में यही होता है। एक काम की भलाई इतनी भर जाती है कि अंजाम की बुराई भूल जाती है। देखा ग्रब तुमने उस ग्रौरत को ? चेहरे पर वीरानगी है। क्या होगा ग्रब उसका ? सोचा, तुम उद्धार करने चले हो ! ग्रब भी शायद सोचते हो कि उसके खातिर ग्रपना बलिदान कर दूंगा।

"क्यों, देवी थी न वह तुम्हारे लिए ? लेकिन तुम्हारी करतूत ने देखा नहीं उसे क्या बना दिया। वह बेचारी बन गई है। लेकिन यह नहीं सोचा कि इसके बाद तुम्हीं कहां रह जाओगे कि उस देवी की पूजा करो, या अवसर हो तो सेवा करो। तुम्हें मालूम नहीं कि तुम्हारे रिकार्ड पर हम लोगों ने तुमसे क्या उम्मीद बाँध रखी थी। तुम्हारी तरक्की अगर जल्दी जल्दी नहीं हुई तो मेरी वजह से और जान बूझ कर। क्यों कि में ठोस बुनियाद चाहता था। गहरी और पक्की बुनियाद पर इमारत बने तो डिगती नहीं है। तुम्हें अभी कसना चाहता था। लेकिन ये तुमने गुल क्या खिला दिया ? बताओ, हुआ क्या ?"

"सर ! पूछिये नहीं।"

"पूछना नहीं चाहता। सिर्फ जानना चाहता हूं कि तुम्हारी बेवकूफी के नीचे इन्सानियत भी थी या सिर्फ हैवानियत थी।"

"सर, वह बहस के जोम में गर्माता गया और वहशी हो आया। अधिकार की बात थी और उसने कहा, 'अभी दिखाता हूं'। और बोला, 'खड़ी तो हो जाओ, शोभना'। शोभना हंस पड़ी। बोली, 'छोड़ो भी।'

इस पर एक साथ उसका रंग बदल गया। बोला, 'सुना, मैंने क्या कहा ? खड़ी हो जाओ।' शोभना ने हिम्मत करके कहा, 'उहँ, छोड़ो, क्या कह रहे हो ! आओ अब कटथ्रोट जम जाए।' वह हिला न डुला। उसने कहा, 'कटथ्रोट वटथ्रोट ही हो जाएगा अगर फौरन खड़ी न हुई।' शोभना ने मेरी तरफ देखा। मुझे तब मालूम हुआ कि अधिकार क्या होता है और अनधिकार क्या होता है। मैं ऐसे बैठा रह गया जैसे हूं ही नहीं और पति ने कहा, 'मैं घड़ी देखता हूं, साठ सैकिंड का मिनट होता है। नहीं तो उसके बाद कठथ्रोट शुरू हो जाएगा।' सब सुन्न हो गया और घड़ी में सैकिंड टिक् टिक् करती हुई बीतने लगी। पत्नी वैसी ही रही, पति वैसा ही रहा, और मैं भी वैसा ही चित्र लिखा सा बैठा रहा। पचास होने पर पति ने गिनती गिननी शुरू की—एक्यावन, बावन, तिरपन। ठीक उन्सठ की आवाज पर जैसे स्प्रिंग लगा हो, वैसे पत्नी

उछल कर खड़ी हो गई। 'दैट इज़िट यू आर ए डार्लिंग'। पति ने कहा, ज़रा उधर खड़ी हो जाओ सामने। कितने सैकिंड लोगी, बताओ। तीस बहुत होने चाहिये। कपड़े ही कितने हैं। पाँच में सब उतर सकते हैं। राइट ?...मैं शोभना को देखकर विस्मय में रह गया। उसके चेहरे पर घबराहट नहीं थी, मुस्कराहट थी। उस मुस्कराहट में मुझे बेहद व्यंग जान पड़ा। बड़ी ही मुझे वह बेधक लगी। जैसे इस क्षण वह विदेह बन आई हो। हया शर्म से ऊंची उठ गई हो। मानो मुझे ताना देकर हराना चाहती हो, दिखाना चाहती हो कि अधिकार होता है और क्या होता है। उसने मानो मुझे चिढ़ाने के लिए पति के उत्तर में कहा, 'आलराइट डियर। एज़ यू प्लीज़।'

"पति को मुस्कराहट पसन्द नहीं आई। जैसे उन्हें आशा थी कि सामने बेबसी होगी। निराशा में फफन कर उसने कहा, हंसी बंद। चेहरे पर मुस्कान न आए। एक लकीर नहीं।'

"शोभना ने अपने बदन पर से खींच कर सब कपड़े उतार फेंके और जोर से हंसने लगी। पति अपनी जगह से उठा और जाने कहाँ से एक बड़ा कोड़ा ले आया। फटकार कर कहा, 'हंसी बंद। एक दम बन्द।' और उसने जोर से हवा में कोड़ा फटकारा। उसकी तेज आवाज मेरी कनपटी पर पड़ी। मुझे हुआ कि मैं भाग जाऊं। लेकिन मैं जैसे बुत बन गया था। पांव पत्थर हो गये थे। शोभना ने अचरज से पति को और फटकारे जाते हुए कोड़े को देखा। मैं उस निगाह को भूल नहीं सकता हूं। उसमें मानो दृष्टि न थी, या अन्तर्दृष्टि थी।"

"यह ठीक है, 'पति ने कोड़े को फटकार कर कहा। 'अब नाचना होगा। कौन डान्स ? अच्छा, जो चाहो ?'

"पत्नी हिली न डुली, वह उन्हीं पथराई आँखों से देखती रही। इतने में कोड़े के फत्तें की जीभें हवा में लहराती हुई आई और उसके बदन को काट गईं। साथ दहाड़ आई, 'डान्स !'

"एकाएक शोभना में अन्तर आ रहा। मानों अभी पत्थर थी, क्षण में बिजली से भर गई। उसने खुल कर मेरी तरफ देखा। तड़कती बिजली-सी चमक उसकी मुस्कुराहट में से मुझे कौंध गई। सर मेरे लिए देखना और सहना मुश्किल था। लेकिन उसकी काया मानों एक अमित उल्लास में भर कर थिरक उठी।

"ऐसा लगा कि क्षण को पति स्वयं विस्मित रह गया है। एकाएक बोला, 'ब्रेबो, दैट्स राइट', और शोभना विभोर होकर द्रुत से द्रुततर हो उठी। जैसे उन्माद आ चढ़ा हो। मुझे निश्चय है कि उसे अपनी काया का भान न था। न मेरा, न पति का। जाने क्या नशा उस पर चढ़ गया था। मानो अपने को भूलकर वह अपने पूरे पन में आ गई हो।

"मुझे विस्मय है कि मैं उसी समय कुछ ऐसा-वैसा क्यों नहीं कर बैठा। लेकिन दृश्य ऐसा अविश्वसनीय था कि मैं सकते से में रह गया था। मेजर भी नितांत उत्तीर्ण और अस्पृश्य जान पड़ता था। जैसे कटघरे में चाबुक लिए खड़ा रिंग मास्टर हो। शेरनी को साधने के समय दर्शनीय भर रह गया हो और किसी तरह उस तक न पहुंचा जा सकता हो। मानना होगा कि उस क्षण एक आदर और आतंक मेरे मन में उसके लिए हो आया था। उसकी आँखें पत्नी के लहराते हुए बदन पर और उसके एक एक कदम पर जमी थीं। जैसे भूल हुई कि चाबुक से शेरनी के बदन को उधेड़ देना होगा। वह बस चौकन्ना था और सावधान और ज़रा इशारा उससे चूक नहीं सकता था। नाच गर्माता चला गया और ऐसा मालूम हुआ कि वह अपने उत्कर्ष बिन्दु पर पहुंचा ही चाहता है। तभी जोर की चाबुक की फटकार हुई और सुन पड़ा, 'स्टाप !'...

"जानता हूं, नृत्य में वह चरम आरोह का क्षण रुकने का नहीं था। वेग से शीर्ष की ओर उठते ही जाने का था। और अपनी ही ताल से एक क्षण नृत्य वह ऊंचा उठता ही गया, तत्क्षण रूक नहीं पाया।

"कि उसी दम सर्राता हुआ चाबुक आया और उस थिरकते बदन पर भरपूर पड़ा और वह काया संभल न सकी, फर्श पर गिर पड़ी। उस पर

उभरे हुए चाबुक की जीभों के निशान अब भी मेरी आँखों के आगे आ जाते हैं। कुछ में लहू छलक आया था और कुछ नीली धारी छोड़ गये थे।

"इस अवस्था में ही मैंने देखा है कि शोभना ने मेरी ओर देखा है। उन आँखों में भय नहीं था। मानो एक तीखी विजय थी। मानो वह यह सब मुझे दिखा रही थी। बता रही थी कि अधिकार यह होता है। क्यों, और देखोगे ?

"चेहरे का जो भाग उसका मेरी तरफ था उस पर एकाएक आकर पति के बूट की ठोकर पड़ी और पति ने मे ी तरफ मुस्कराते हुए देखकर कहा, "यू सी !"

"उस समय उस विष-बुझे व्यंग को सहता हुआ मैं कैसे बैठा रह गया, सर, मैं आपको कह नहीं सकता।

और पति ने मुड़कर चाबुक को सड़सड़ाते हुए लगातार उसकी दो तीन धार शोभना को दी और कहा, "गैटअप।"

"उठने में देर हुई तो बूट की ठोकर दी गई। गेटअप यू डार्लिंग, यू डेविल !'

"सचमुच धीरे धीरे शोभना उठ आई। बाल उसके बिखर गये थे। और चेहरा ढंक आया था। मानो उस चेहरे पर अब भी भय न था, न शिकायत थी। मानो वह समझती हो और सहमत हो। मानो प्रतीक्षा में हो कि आगे क्या हुक्म है। पति ने कहा, 'वेल डन। अब जा सकती हो। और ठीक होकर सात मिनट, सही सात मिनट में यहां आ जाना है। दूसरी चाय के लिए भी कह आना। यह ठण्डी हो गई है।' और कहकर हाथ का चाबुक शोभना की तरफ फेंक दिया कि शोभना ले और उसे अपनी जगह रख जाए। शोभना ने सधे करतब से हवा में आते हुए उस चाबुक को हाथ से लपक लिया और लाल नीली झलकती हुई धारियों वाली देह को मानो अब भी अपनी पूरी अदा से हिलाती-डुलाती हुई वह मेरे सामने से अन्दर वाले कमरे में चली गई।

"मैं बैठा था। मुझे कुछ समझ न आया। जैसे सरकस का दृश्य हो।

जैसे स्क्रीन पर कुछ हो गया हो, जो असल में न हुआ हो। कहीं किसी ओर उसका प्रभाव न दीखता था। पति के चेहरे पर मुस्कराहट थी और पत्नी के चेहरे पर मैंने शिकायत न देखी। मेरा सिर चकरा रहा था और वह शोभना की नग्न काया जो कपड़ों में से नई-नई संगमरमर की मूर्ति सरीखी दिपती हुई दीखी थी और जो पीछे क्षत-विक्षत होकर मानो और भी अधिक उद्दीप्त दर्प से बल खाती हुई आँखों से ओझल हो गई थी, मेरे माथे में एक-दूसरे से लिपटी हुई चकराए जा रही थीं और मैं पथराया-सा बैठा था।

मेजर ने कहा, 'आपने देखा ?

"मैंने मेजर को देखा।"

" 'विवाह सम्पूर्ण अधिकार है,' मेजर ने कहा, 'और आप भूलियेगा नहीं।

" 'अधिकार सम्पूर्ण ही होता है,' मैंने कहा, आप सुन लीजिये कि वह इस क्षण संपूर्ण छिन गया है। पति मैं नहीं जानता, लेकिन बड़ा हक़, इन्सान होने का हक़ आपसे छिन चुका है। क्या आप यह जानते हैं ?'

" 'छोड़ो दिनेश,' मेजर ने कहा पति से ईर्ष्या न करो। ईष्या पति को शोभा देती है। शोभना को तुम देख चुके हो। पूरी हालत में देख चुके हो। अब तुम्हारी निगाह में मैंने कुछ देखा तो तुम शायद बच जाओ, शोभना न बचेगी।'

" 'मुझे आप इजाजत देंगे कि मैं आपको इस जिन्दगी से छुटकारा दे दूं ?'

" 'दिनेश, क्या नशा इस क़दर है ?'

" 'आज के बाद यह जरूरी है !'

"मेजर हंस पड़ा। पूरा कहकहा लगाकर हंस पड़ा। बोला, "तुम लोग भी अजब होते हो। औरत को परी बनाकर देख लेते हो। सुनो, शोभना देवागंना नहीं है, मेरी बीबी है। अब भी तुम समझोगे वह देवी है ?"

"मुझमें गुस्सा बल खा रहा था। मैं उसको पी गया। कहा, "आपको

मौका होगा, पहला वार आप करें। मैं मर गया तो ठीक है। लेकिन नहीं मरा तो मुझे निश्चय है कि आपको मरना होगा। कि अभी हाथ मिलाकर हम यह तय कर सकते हैं ?"

मेजर हंसा। 'एक औरत पर, ईमानन !' कहकर वह और हंसा, बोला, 'दिनेश तुम बच्चे हो।' "मैंने कहा, 'सुनिये। आज के बाद जीने का हक आपका नहीं रह जाता। यह मैं ही कह सकता हूं। दुनिया में और कोई यह कहने नहीं आयगा। आपकी पत्नी भी यह नहीं कहेगी। लेकिन दुनिया की तरफ से मैं अकेला काफी हूं। पति के अधिकार को आप रखिए, मैं उसे छेड़ने वाला नहीं हूं। लेकिन मनुष्य का अधिकार आपसे छिन जाता है। जानवर होकर खुले समाज में रहने की आपको इजाजत नहीं होगी। आपकी शौहरत है कि आप शाइस्ता हैं। सुसंकृत हैं और भद्र हैं। सारे कैम्प में यही मशहूर है। आप शौहरत को झुठला नहीं सकते। मैं चाहूंगा वह जिए। उससे हम छोटों को सबक मिले। लेकिन हैवान इन्सान के नाम पर नहीं जी सकेगा।"

"मेजर अपनी जगह से उठा। मुझे कन्धों पर थपथपाया और कहा, 'प्यार यही किया करता है क्या ? सुनता रहा हूं, वह आदमी को देवता बना देता है। लेकिन अब सामने ही देखता हूं। क्यों दिनेश, देवता बनने की तैयारी है ? अरे, वह देवी नहीं है जिसके लिए तुम देवता बनते हो। पन्द्रह बरस से मेरे साथ है। निरी औरत है, निरी औरत। और नाहक देवता बनने की जिम्मेदारी तुम मत उठाओ, दिनेश। आओ, तैयार हो बैठो। वह आती ही होगी। और गर्म चाय भी आती होगी।

"सर, मैंने मेजर को देखा। उस पर किसी तरह की संशय की रेखा न थी। उसमें कोई दुविधा न थी, पछतावा न था। उसमें यह भी न था कि उसने भूल की है। वह ऐसा दीखता था जैसे एक दम आर्टिस्ट हो। चित्र बनाया हो, या अभिनय किया हो। अन्यथा सर्वथा स्वस्थ और तटस्थ हो। मैं इस हद तक न सह सकता था। आवेश में कोई पागल हो जाए तो, सर, आप समझ सकते हैं, मैं समझ सकता हूं। लेकिन वहां

तो कोई भाव छू नहीं गया था। सच कहता हूं सर, मुझे एक डर लग आया।

" 'दिनेश' उसने प्रसन्न भाव से कहा, 'हम एक-दूसरे का जिम्मा उठा लिया करते हैं। तुम शायद मेरी आत्मा का जिम्मा लेना चाहते हो। मेरा अनुभव है कि यह काम वृथा है। अपना-अपना रहना सबके लिए काफी है। वही काफी बोझ है, काफी जिम्मेदारी है।...लेकिन तुम शायद अपने को सम्भाल नहीं सकोगे। तुम क्राइस्ट की सोचते होगे, जिसने सबका जिम्मा अपने ऊपर लिया। लेकिन उसका तरीका जानते हो? तरीका है मरने को अपने ऊपर ले लेना, मारने वाले को हर मौका देना। दिनेश, हम लोगों का प्यार काम की चीज़ नहीं है, उससे उलझन होती है। उस पर वश जो नहीं चलता, सो आदमी उलझ पड़ता है। सीधी सी बात है, कि ब्याह होता है और औरत मर्द के दरम्यान जो एक-दूसरे को देने के लिए है वह इस रिश्ते में खत्म हो जाता है। ऐसे सन्तान होती है, और माँ बाप होते हैं, और जिम्मेदारियाँ बनती जाती हैं। प्यार आकर इसमें उलझन डालता है। व्यवस्था इससे दबाव पाती है और टूटने को आती है। जितना जो है यहां व्यवस्था पर टिका है। लेकिन तुम्हारी आँखों में प्यार है और शोभना की आँखों में भी कभी-कभी वह दीख जाता है। हम फौजी लोग हैं, दिनेश। कवायद से हमारा काम चलता है। क्यों, अब भी देवता बनोगे, जिम्मेदारी लोगे?'

"मुझमें तीव्र कर्त्तव्य पैदा हुआ। उसके नीचे तीव्र घृणा थी। मेजर के इन शब्दों को सुनकर मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। जैसे मैं कहीं डिग न जाऊँ। मानो हैवान के अन्दर सोचने वाला इन्सान दीखा हो और मुझे यह पसन्द न हो। मैंने बल लगाकर कहा, 'मेजर, तुम मेरे अफ़सर हो। लेकिन यह तय है कि तुमने उल्लंघन किया है और मैं ही एक साक्षी हूं। क्या हम परसों मिल सकते हैं?'

" 'फोर डियुएल? मेजर ने हंसकर कहा, 'लेकिन यह तो भारत की प्रथा नहीं है। भारत की प्रथा बलिदान है!'

"मैंने अपने को कसे रखा। कहा, 'परसों सवेरे पाँच बजे, लाहौर रोड, चौथे मील और चौथे फर्लांग पर, दाहिने हाथ बाग में।'

" 'दिनेश। मैं तुम्हें प्यार करता हूं। तुम बच्चे हो।'

" 'पक्का है ?'

" 'बचपना न करो दिनेश।'

"मैंने मेज़ पर अपना दाँया हाथ बढ़ाया, कहा, 'जिन्दगी प्यारी लगती है ?"

" 'हाँ, और तुम्हारी अभी खिलनी शुरू हुई है। आगे तमाम तुम्हारे बनाने को पड़ी है। तुम क्यों नहीं देखते हो कि शोभना तुमसे कई साल उम्र में ज्यादा है !'

" 'अपमान पर अपमान न करो मेजर। मैं इस तुम्हारे घर में पागल नहीं होना चाहता।"

"मेजर हंसा। अनबूझ वह हंसी थी और मुझे भीतर तक काट गई। बोला, 'तो तुम कहते हो, प्यार में उम्र नहीं होती। मेरा अनुभव है होती है, दिनेश। तुम्हें कुवारी से शादी करना है। तुम्हारे ख्याल कुंवारे हैं।'

"इतने में मैंने सचमुच शोभना को दूर से आते हुए देखा। वह संभली और संवरी हुई थी और भरसक उसके चेहरे पर कुछ न था। उसके हाथ में ट्रे थी। सच कहता हूं, सर, मैं उस दम्पति पर दंग रह गया।

"मैंने कहा, 'वह आ रही हैं।'

" 'हाँ, आ रही है। तुम अपना यह हाथ न खींच सकोगे ?'

" 'आप कहें तो खींच सकता हूं। लेकिन आपसे कायरता की आशा नहीं है।'

"शोभना बढ़ी आ रही थी। मेजर ने मानो कातर भाव से मुझे देखा। एक क्षण देखते रहे। वह निगाह मुझे बीधती चली गई। लेकिन मेरा हाथ खुला हुआ मेज़ पर ही रखा रहा। तब मेजर ने अपनी हथेली मेरी हथेली पर रखी और मेरा हाथ दबा दिया। भरे गले से कहा, 'अच्छा। चौथी मील, चौथा फर्लांग।'

"शोभना ने आकर ट्रे रखते हुए कहा, 'आप हैं अभी ?...मैं समझती थी. . .'

''क्या समझती थी, यह स्पष्ट नहीं हुआ और मैं चुप बना रहा। कैसे कुछ कह सकता था। उस समय मेजर ने बात को थामते हुए कहा, 'डार्लिंग, यह मुझे इतनी देर सहते रहे थे, अब आगे सहना नहीं चाहते। लेकिन तुम गर्म चाय ले आई हो. और यह ठीक है।"

"शोभना में मैं तब जाने क्या-क्या देखने की आशा करता था। उसकी छाया भी मुझे वहाँ दिखायी नहीं दी। मैं मन में सोचने लगा कि हाय, यह दासता कितनी घोर है। पति की ओर से कोई भी क्षमा-याचना का शब्द नहीं था, न पत्नी की ओर से ही माँग थी। मैं दृश्य का साक्षी होकर वहाँ बैठा हुआ था, इसकी भी मानो चेतना वहाँ नहीं थी। शोभना को उस सबसे संस्पृष्ट पाया तो मैं भीतर से और भी कट कर रह गया। मेजर ने प्याला बनाकर दिया और मैं सोचता रह गया कि यह अपकर्म किस प्रकार दैनंदिन साधारण घटना की भाँति ले लिया जा सकता है। स्त्री की शून्य निरीहता और पुरुष की अबाध विभुता के प्रमाण के रूप में वह बात मुझे अन्दर तक चीरती चली गई और मैं भीतर-ही-भीतर अपने प्रण में मजबूत होता चला गया।

''मेजर ने कहा, 'डियर, दिनेश नए युवकों में सबसे होनहार अफसर है। तुम इसको जरा प्यार-संभार दे सको तो—वह अविवाहित है।' पत्नी ने कहा, 'शटप' और कहकर वह मेरी तरफ देखकर मुस्कराई। मैं नही मान सकता कि उस हालत में कोई वैसे मुस्करा सकता है। मैं अब तक नहीं जानता कि उस मुस्कान में प्रोत्साहन था या व्यंग था। मेरे मन में उसके बदन की उछली वे धारियाँ उठ रही थीं, जो अब कपड़े के नीचे तो थीं, लेकिन दुख तो रही ही होंगी। क्या वे सब, जिनमें लहू छलक-छलक आया था, अब एक आह और कराह की दावेदार नहीं हो सकती थीं ? लेकिन शोभना की मुस्कराहट में मैं कुछ भी ढूंढ न सका।

" 'शट्प न कहो' मेजर ने कहा, 'उसके मन में एक प्रण है, एक जिम्मेदारी है । सच नहीं है क्या यह, शोभना, कि हम जानवर हैं ! और कुछ लोग आते हैं, जो इन्सानियत में हमें उठाते हैं। दिनेश का विवाह नहीं हुआ है और वह वही आदमी है !'

"शोभना ने मेरी तरफ देखा । वह निगाह जैसे मुझे भीतर तक उधेड़ती चली गई । मुझे लगा कि मैं बेवकूफ तो नहीं बन रहा हूं । लेकिन मैंने अपनी ही आँखों से देखा था । वह सरकस नहीं था, सिनेमा नहीं था, और क्रूरता का वह नाच मेरे सामने-सामने हुआ था । फिर यह सब क्या है ?···और शोभना की मुस्कराहट को मुझसे कुछ भी उत्तर देते न बन पड़ा । नहीं जानता हूं, मुझ पर क्या बोझ था । क्या वह मुस्कान मुझ से नहीं मांग रही थी कि मैं उठूंगा और उसे मुक्ति दूंगा ? या वह मुझ पर तरस खा रही थी ? अगर उसे पता हो कि क्या संकल्प मुझमें पक्का हो चुका है ! मैं उस त्रास को, सर, कह नहीं सकता कि जो मेरे मन पर दबाव दिये ही जा रहा था । यदि मैं मेजर के चित्त या चेहरे पर तनिक ढील देखता, कुछ स्खलन या विचलन देखता, तो मुझको आराम भी मिलता । लेकिन वैसा कुछ भी वहाँ नहीं था । मानो पत्नी के नाते शोभना पर उनका इतना अधिकार हो कि किसी विचार की आवश्यकता ही न हो । वह विश्वस्त भाव मुझे हिंस्रभाव ही मालूम हो रहा था । आप ही बताइए सर, नहीं तो वह क्या था ?

"मेजर ने पत्नी के सामने कहा, 'दिनेश, तुम अच्छे आफिसर हो । तरक्की पाते रहना, और आगे अपना भविष्य सम्भाले रखना ।'

"वह बात सर, मुझे ऐसी लगी जैसे मैं एकदम अबोध बच्चा होऊं और मेजर अध्यापक हो । मैं यह कैसे सह सकता था ? मैंने धन्यवाद जितना भी उत्तर में कहा हो, मुझे याद नहीं है । लेकिन कहा होगा तो उपचार के नाते । अन्यथा उत्कट कर्त्तव्य भाव और तीव्र विद्वेष भाव उस समय मुझमें सुलगा हुआ था । चलते हुए मेजर ने मेरा हाथ दबाकर, कान में पूछा, "दिनेश, वही पक्का है ?"

मैंने दबाव पर प्रतिदबाव नहीं दिया, फुसफुसा दिया, 'चौथी मील, चौथा फर्लांग ! हाँ।''

''मैं चला आया और रात भर सो नहीं सका। अगले दिन भी मैं उसी में रहा। और मुझे साफ दिखाई देता चला गया कि मेरा कर्त्तव्य क्या है। कुछ कर्त्तव्य सामाजिक होते हैं, लेकिन कुछ उससे ऊंचे हो सकते हैं। उनको टाला नहीं जा सकता। कैसे टाला जा सकता है, जब अपनी आत्मा को ही टाला नहीं जा सकता। लेकिन सर, वह हैवान इन्सान था और बड़ा इन्सान था। यह बात आग की लकीर की तरह कभी मेरे जी को ऐसी चीर जाती है कि मैं कुछ भी कर नहीं सकता, बस मरना चाहता हूं।

''मैं पहुंचा तो उसके दो मिनट बाद मेजर मुझे वहाँ दिखाई दे आया था। मैं मोटर बाईक पर गया था। लेकिन उसकी सवारी कहीं कोई दिखाई न दी। वह कैसे कब वहां पहुंचा, मैं कह नहीं सकता। पिस्तौल वह अपना साथ लाया था, लेकिन उसने फायर किया और उसमें से कुछ नहीं निकला। एक क्षण को लगा कि मैं गया। लेकिन धुंआं साफ होने पर दीखा मैं हूं और सामने कुछ कदमों पर वह भी है। उसके चेहरे पर कोई दृढ़ता न थी, एक अजब आर्द्र भाव था। मैं समझ गया कि निशाना चूका नहीं है, न और भूल हुई है। सिर्फ मुझे बहकाया गया है कि मैं न समझूं कि वह अर्नेस्ट नहीं है। इस उसके विश्वस्त और उत्तीर्ण भाव पर मैं सहसा गर्म हो आया। उस क्षण अपने विरुद्ध होकर संकल्प पूर्वक मैं देखता चला गया कि सामने हैवान है, और दानव है, कि उसको मिटा-कर ही स्वयं रहा जा सकता है। मैंने भरा पिस्तौल उठाया और दाग दिया। तत्काल वह गिरा नहीं और उसके बाद दूसरी ओर तीसरी गोली भी मैंने उसमें उतार दी। सब उसके सीने में जाकर लगीं और अब वह गिर पड़ा।

''आगे आप जानते है और मुझे इसके सिवा और कुछ कहने को नहीं है कि जो अपने कामों से मनुष्यता का हक खो बैठता है उसको जीने देने

का फर्ज किसी के पास नहीं रह जाता। और इसलिये हर कोई उसे छुट्टी दे सकता है। लेकिन मुझे मौत की सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए।...' "

ब्रिगेडियर ने कहानी सुनी। उसने अब चुरुट सुलगाया और एक कश खींचकर धुंआ छोड़ने के बाद कहा..."वेल बाय, आई एम सॉरी, श्योर आई शैल हैल्प यू टु मीट डैथ।"

ब्रिगेडिअर से यह आशा न थी। दिनेश मानो एक साथ गिरा। लेकिन उसने अपने को संभाला। कहा—"थैंक्यू सर!"

दिसम्बर' १९६१

बिखरी कहानी

"स्वर्गीय डी० पी० सेन को आप जानते हैं। समाज विज्ञान में उन्होंने गहरी गवेषणाएँ की हैं और मौलिक दान दिया है। किन्तु जो सामग्री उनकी छपकर सामने आती रही, वह चुनकर और छनकर आई है। वह उनके निर्धारण का फल है। निर्धारण में अनुभवों और घटनाओं को अधिकांश छोड़ दिया जाता है। केवल विचार-पूर्वक सार-सूत्र ही दिया जाता है। किन्तु यह प्रक्रिया अहंकृत होती है और जो तत्ववाद और ज्ञान-विज्ञान इस तरह प्राप्त हुआ करता है, उसको नितान्त सच नहीं ठहराया जा सकता। वह तो मानो युक्ति है जिसके सहारे आदमी चलता है और बढ़ता है। जीवन के समग्रतत्व की दृष्टि से वह आधार एकांगी भी हो सकता है।"

दिनेश ने यह कहा और सुननेवालों की ओर देखा। जैसे पूछता हो कि बात क्या गहरी है? रुककर आगे उसने कहा—"डा० सेन ने जो दिया वह उससे बहुत कम है जो उन्होंने पाया। वह विद्वान् से अधिक कुछ थे। व्यर्थ सार निकाल लेने पर अनुभव की कायाको व्यर्थ छूँछा समझ फेंक नहीं देते थे। बल्कि कभी-कभी साथ रखा करते थे। मेरी उनकी मैत्री सम-वयस्कों और सम-समानों की नही थी। मैं छोटा था, फिर भी मुझे अपने समीप लेते और अपना ही मानते थे। उनके बाद बहुत से कागज मिले हैं और कभी-कभी तो बड़ा विस्मय होता है। अधिकांश वे संकेत भाषा में हैं। डा० सेन अपनी आविष्कृत किसी संकेत लिपि में लिखते या सोचते भी होंगे, इसकी कल्पना न होगी। प्रत्येक शब्द जो उनका छपा है, स्पष्ट

अँग्रेजी में मिलता है । जान पड़ता है, यह सब सामग्री कारखाने से बाहर जाने के लिए नहीं थी, मानो वह भीतर का कच्चा माल था। दिमाग से जाँच-परख कर तैयार माल जो आता था, वह अँग्रेजी लिबास में ही दिया जाता था । लेकिन मुझे प्रतीत होता है कि बहुत मूल्य की चीजें उस कच्चे और रद्दी माल में आपको मिल जाएँगी।

"उन्होंने सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से मानव व्यक्तियों का जो वर्गीकरण सुझाया उसे आम तौर पर विश्वविद्यालयीन हम लोग स्वीकार करते जा रहे हैं। किन्तु सच यह है कि उस वर्गीकरण में शायद उन्हें ही पूरी श्रद्धा नहीं थी। वह एकीकरण चाहते थे और स्यात् उसीके निमित्त से वर्गीकरण सुझाते और सहते थे; लेकिन मानते थे कि मानव व्यक्ति, न मानव जीवन वर्गों में धँसकर बैठ पाता है और हमारे विशेषण सिर्फ अपनी सहायता के लिए होते हैं, सच पर उन्हें नही चिपकाया जा सकता है। सच निर्गुण है और गुणों के द्वारा यद्यपि हम वस्तु को पहचानते हैं पर उन गुणों का उत्तरोत्तर परिहार करते-करते हमें निर्गुण की तलाश में आगे ही बढ़ना है। अर्थात् ज्ञान वह नहीं है जिस पर टिका या रुका जाता है। ज्ञान को इसीलिए साथ-साथ अज्ञान मानते रहना बहुत जरूरी है।"
मण्डली दिनेश की बात को सुननेवाली छोटी-सी थी। उसमें कई सदस्य सुनकर हँसे। एक ने कहा—"अच्छा, अच्छा ! बात कहो जो कहना चाहते हो। किस्से की बात ही न थी। दुतरफी कहकर बात को अधर में लटकाकर घपले में डालने की, दिनेश, तुम्हारी आदत बनी जा रही है !"
"हाँ, कहानी ही लीजिए। कहानी के रूप में डा० सेन ने नहीं लिखी; लिखी आपबीती के तौर पर थी। इसलिए घटना की कड़ियाँ सही-सही जुड़ी हुई नहीं है, न ही घटना की पीठिका उभरकर साफ मन में बैठ पाती है। मालूम ऐसा होता है कि अपने जीवन की खुलती वय में एक चेहरे से वह बहुत ही चमत्कृत विस्मित रह गये थे। वह थीं जिन्हें वह कहते तो भाभी कहते। लेकिन कहने का अवसर नहीं आता था। क्योंकि उनके प्रति स्वर्गीय सेन में इतना आश्चर्य और इतरा मुग्ध भाव हो आता था

कि मुंह से शब्द नहीं निकलता था। जब उन्हें सामने पाते, मूक बन जाते थे पर फिर भी बार-बार ग्रामना-सामना चाहते थे। हर बार समक्ष पड़ने पर उन्हें ग्रपने निज का ग्रपनापन बहुत ही चुभने लगता था। प्रतिज्ञा करते थे कि कभी सामने नहीं जाएँगे। लेकिन भाभी कुछ उनके मन पर ऐसी दिप गई थी कि प्रतिज्ञा निभती नहीं थी ग्रौर बहाना होते ही वह झाँकी पाने पहुँच जाते थे।

"विस्मय की बात मानी जा सकती है यह कि डा० सेन जैसा कठोर वैज्ञानिक इतना भावुक कभी रहा हो। ग्रविश्वसनीय कथा लगती है। कोई भी सहसा विश्वास करने को तैयार न होगा। चलो, बचपन की ग्राँखों में कुछ भूम ग्राया भी हो तो चल भी सकता है। लेकिन बात बचपन तक नहीं रही। स्मृति की सुरक्षा में वह मूरत उनके भीतर उसी प्रकार दीप्तिमान बनी ही रही। चालीस वर्ष वाद भेंट हुई। जिस छवि को सत्रह-ग्रठारह वर्ष की ग्रवस्था में देखा था, वह उनकी याद पर किस तरह ग्रंकित ही रह गई; तमाम वैज्ञानिक शोध-संशोध की ग्रनवरत व्यस्तता में से वह मूर्ति किस सम्बल पर जीती ही चली गई, कहना कठिन है। उनके विज्ञान की प्रेरणा ग्रौर उपलब्धि दोनों पर स्मृति का प्रभाव रहा, यह वस्तु सच नहीं मानी जा सकेगी। लेकिन मैं नहीं जानता कि मैं क्या कहूँ। मैंने स्वयं ही उनके कागज पढ़े हैं ग्रोर ऐसा लगता है कि जब उनकी ग्रवस्था ५७-५८ वर्ष की थी ग्रौर मृत्यु से केवल वह ग्राठ वर्ष के ग्रन्तर पर थे, उनमें उसी बालोचित विमूढ़ता के बीज ग्रौर ग्रंकुर थे जिसके प्रभाव से वह किशोरावस्था में मूढ़ बन जाते थे ग्रौर मुंह से एक शब्द नहीं कह पाते थे। जाते थे ग्रौर लौट ग्राते थे; ताकि फिर जाएँ ग्रौर फिर लौट ग्राएँ।

"भेंट पर उन्होंने लिखा है कि ग्रपरूपता की हद नहीं रह गई थी। तमाम काया से जैसे कुत्सित निमन्त्रण की लपटें फूटती लगती थीं। ग्रायु स्वयं डा० सेन की उस नारी से किंचित् कम ही रही होगी। लेकिन उस उपस्थिति में चारों ग्रोर कैसा एक कदर्य संकेत, एक वीभत्स जुगुप्सा-जनक लिप्सा व्याप्त थी कि कहा नहीं जा सकता। किन्तु चालीस वर्ष पहले

उन्होंने उसी काया के आस-पास कैसी एक अनुपम स्पृहणीयता और रमणीयता देखी थी ! उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह छवि स्वप्न में भी दुर्लभ होती है । वह…"

"क्या हाशिया जोड़े जा रहे हो ? बात कहनी है तो सीधे सिलसिले से कहो, दिनेश ।"

दिनेश एकाएक रुका और बोला—"हाँ, सिलसिला । सिलसिला मैं भूल जाता हूं । मुझे वह याद नहीं रहता है। सच यह कि मेरे लिए वह कहानी भर नहीं है । मैंने बार-बार पढ़ा है और सब कुछ मेरे लिए इतना आत्मीय इतना यथार्थ, इतना व्यथामय हो गया है कि क्रम वहाँ से लुप्त हो जाता है । सूत्र कहीं रह नहीं जाता, सब एक ज्वाला में इतना विदग्ध हो जाता है कि…लेकिन सुनिए…"

डा० सेन अपनी लैब (प्रयोगशाला) में थे। सख्त ताकीद थी कि प्रयोग के बीच कोई सूचना उन तक न लाई जाए, कैसी भी स्थिति या आवश्यकता क्यों न हो। लेकिन तभी हठात् पास में फोन की घंटी बजी ।

फोन को उनकी सेक्रेटरी अपने तक ही रोक लिया करती थी। लेबोरेटरी में फोन का सम्बन्ध था तो केवल होने के लिए, उपयोग में नहीं आता था। कारण, आदेश कड़े थे और डा० सेन से स्वतन्त्रता लेने का साहस किसी को नहीं हो सकता था। फोन उठाकर उन्होंने झिड़की से कहा—"यह क्या धृष्टता है !"

"जी, मैं क्या कर सकती हूं । महिला मानती नहीं ।…"

"बस खत्म ! तुम्हें समझना चाहिए।…

"जी…"

सेन ने नाराज होकर फोन धप से रख दिया ।

थोड़ी देर बाद फिर घंटी बजी । बहुत ही झीककर सेन ने फोन उठाया । कान पर लेते ही उधर से कहा गया, "जी क्षमा कीजिए । मैं हूं…महिला कहती है कि उत्पात बचाना हो तो…"

"अच्छा मिलाओ।"

थोड़ी देर बाद महिला का स्वर आया—"हलो ! हलो ! सेन साहब हैं ?"

"हाँ, मैं सेन हूं।"

"मुझे पहचान सकते हैं ?"

"जी नहीं।"

"ओह, सेन। मैं वही हूँ। तुम्हारी—भाभी !"

"कौन ?"

"भाभी ! तुम्हारी भाभी !!"

"माफ कीजिए। कौन भाभी ? अनिला तो आप नहीं हैं।"

"नहीं, भाभी, वही तुम्हारी—भूल गये हो !"

"हाँ, भूल गया हूं।"

"लेकिन मैं नहीं भूली हूँ। बरस चालीस हो गये हैं तो क्या तुम भूल जाओगे। तुम छोटे थे। अठारह वर्ष के होगे और मैं तुम्हें नहीं देखती थी। और देखती थी कि तुम•••याद आया ?"

डा० सेन को याद आ गया। याद कोई बहुत सूखी नहीं थी। मानो हरी थी और सारे में भरी थी। फूंक से जैसे कांच पर आई धूल उड़ जाती है, बस वैसी एक हल्की फूंक की जरूरत थी। जैसे जरामें चालीस साल की धूल उड़ गई हो और नीचे से पहले का घाव एकदम हरा हो आया हो। हाथ फोन को पकड़े रह गये और मानो सब इन्द्रियों ने काम करना बन्द कर दिया। मुंह से एक शब्द नहीं निकला। उधर से क्या-क्या कहा जाता रहा, उसका एक शब्द कान में से भीतर नहीं उतरा। वर्तमान सब मिट गया। अतीत जो कहीं नहीं था मानो वही साक्षात हो गया। वह वैज्ञानिक को उठाकर सर्वथा अवर्तमान कर गया और मानो एक कच्चे किशोर को एवज़ में छोड़ गया। दो-तीन मिनट हो गये। उस ओर से जाने क्या-क्या कहा जाता रहा। भान तब हुआ, जब वाणी धीमी पड़ गई, मानो निराशा से बुझने वाली हो। अब कानो ने सुना कि कहा जा रहा है—

"जाने दो। कोई बात नहीं। मैं···लेकिन तुम याद नहीं कर सकते और—और आगे बस मुझे मरना रह गया है।"

तब उस स्वर से जगकर बोले—"मुझे याद है !"

"याद है ?" उधर से उत्साह का स्वर आया—"तुम्हें याद है ? लेकिन सुनो, तुम बड़े आदमी हो। मैं मर रही हूँ।"

"कहाँ, इसी शहर में हो ?"

"हाँ इसी में जहाँ तुम हो। लेकिन सेन, मैं वह नहीं हूं। तुम नहीं आना चाहो तो मत आना। मन की बात है, तुम्हारा मन खुशी नहीं पायेगा शायद। लेकिन मेरे लिए एक तुम्हारी ही आशा बची है।"

सेन ने पता वगैरह सब ले लिया और टेलीफोन बन्द कर दिया।

"मैं सोचता हूँ," दिनेश ने बघारते हुये कहा—"विज्ञान क्या है ? वह एक व्यवस्था है जो हम अपने दिमाग से निकालकर दुनिया को देते हैं। वहाँ दीखने वाली चीजों के आपसी सम्बन्धों में नियम खोज हैं और डालते हैं ! वह एक अनुशासन है जो मस्तिष्क से आता है और वहाँ से मानव जगत् को पहनाया जाता है। लेकिन सेन के जीवन और जगत् का अनुशासन एक चोट में भंग हो गया। हम जान सकते हैं, क्या हुआ होगा। एक सुनिश्चित व्यवस्था में सब यथास्थान था। उसमें हिलोरें डालता तूफान ही आ गया !"

सेन के जीवन चरित को हम जानते हैं। गिरस्ती भी हुई। लेकिन वह जैसे हुई न हुई एक सी थी। सब चिंतित हैं कि क्यों वह सफल न हो पाई। आज सेन नहीं हैं और उनकी पत्नी भी नहीं है। अपने समय में उस गिरस्ती को असफल कोई नहीं कह सकता था। श्रीमती अचला सेन अपने युग की प्रख्यात लोक-सेविका थीं। उनकी कर्मण्यता के प्रमाणस्वरूप अनेकानेक संस्थाएँ आज विद्यमान हैं। श्रीमान् और श्रीमती सेन की जोड़ी अपने समय में आदर्श दाम्पत्य के उदाहरण के रूप में ली जाती थी। किन्तु अब यह अविदित नहीं है कि दाम्पत्य के रस की दृष्टि से वहाँ शून्यता थी और इसी कारण शायद दोनों ओर प्रचण्ड कर्मण्यता

थी। जो हो, सेन उस गिरस्ती को लेकर अव्यवस्थित नहीं थे और जैसे उनके लोक में पत्नी का स्थान नियत हो गया था। किन्तु उनके कागजों से पता चलता है कि अठारह वर्ष के किशोर में जिस अलभ्य रूपसी ने भाभी के पद से उनके मन-प्राणों को रस से आप्लावित कर दिया था वह स्मृति किसी अमुक स्थान में ही नियुक्त होकर बैठ नहीं गई थी। स्मृति का पात्र केन्द्र में से चालीस वर्षों तक अनुपस्थित रहा इससे वह व्यवस्था में और उसके अनुशासन में कोई व्यतिक्रम अवश्य नहीं ला सकी, लेकिन लम्बे-लम्बे चालीस वर्षों के अन्तराल के बाद यह जो अनायास संवाद प्राप्त हो गया कि वह है, है, सशरीर है और मरणासन्न है, तो जैसे इस स्थिर विज्ञानी का सब कुछ हिल गया !

उस जीवन ने बहुतों को अनुप्राणित किया है। स्वयं यह आपके सामने का दिनेश वहीं से बना है। लेकिन ५७-५८ वर्ष की अवस्था में जब वह अपनी उपलब्धि और कीर्ति के शीर्ष पर थे और उनसे जाने क्या-क्या आशाएँ थीं, ठीक उसके बाद जो एकाएक उस उत्कर्ष का उतार दीखता है, सब आशा-आकांक्षाओं के प्रति जो एक विमुखता और वीत-रागता प्रकट होती है एक निश्चित स्खलन दिखाई देता है, उसके मूल में कुछ तो अवश्य था। मैं मानता हूं कि वह यही मानसिक प्रत्याघात था। इसी ने मानो उनकी हरियाली को बुझा और सुखा दिया था और सब निश्चित को उनमें विचलित कर दिया था।

उनके कागजों में इस घटना का उल्लेख मिलता है। सचित्र वर्णन तो यही नहीं है, लेकिन मीमांसा बहुत है। काफी उस पर उधेड़-बुन है। यही उनकी मनोवृत्ति थी कि जिससे अनुभव की सामग्री उनके लिए ज्ञान-सामग्री बनती चली गई। अनुभव हमें झिझोड़ डालते हैं और खोद मारते हैं। यदि उन्हीं को हम मानस के काबू में लाकर एक सुश्रृंखलित धारा में रख और दे पाते हैं तो वही ज्ञान और बल बन जाते हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि यह घटना उस तरह उनके काबू में नहीं आ सकी और उनके समस्त निर्धारण के आगे एक प्रश्नचिह्न-सा बना हुआ छोड़ गई।

मालूम होता है कि डा० सेन उन भाभी के यहाँ पहुँचे थे। इसकी तो कल्पना की जा सकती है कि जिस रूप और जिस परिवेश में उन्होंने अपनी भाभी को पाया, वह उत्कर्षवर्द्धक रहा हो, पर बात इतनी ही नहीं थी। उन्होंने वहाँ जिसको देखा उसको शायद किसी तरह उस छवि से नहीं जोड़ सके जिसको मन में लेकर वह वहाँ गए थे। उनके मन में शायद बहुत जल्दी करुणा हो आई। करुणा आत्मीयता को खा जाती है। शायद ऐसा ही कुछ घटित हुआ दीखता है। वह सब तरह की तैयारी से गए थे। लिखते हैं—

मैं यहाँ आया हूँ। क्या देखता हूं ? देखता हूँ कि सेन कोई गिनती में नहीं है। बस उसका लाभ चाहिये। हाव-भाव क्यों दरसाया जाता है ? क्यों उसमें मेरा और अपना इतना विश्वास है ? सब कुछ यह क्या देखता हूं ? छी: छी: ?

"ओह, सेन ! मेरे सेन, तुम आ गये। देखो यह तुम्हारी भाभी है। तुम बोल नहीं पाते थे और अपनी तरफ से तुम्हें मैं इस लायक नहीं समझती थी कि—कि मुंह लगाऊँ···वह बात गई। मुझपर जो बीती है, पूछो नहीं। सब है। लेकिन मेरा कोई नहीं है।...मुझे रुपया चाहिए। पाँच सौ कम से कम फौरन चाहिएं। तुम लाए हो ? दे सकते हो ?

मैं पैसा ले गया था। चुपचाप पाँच सो निकाल कर दे दिया।

उसने मुझे देखा। थोड़ी देर के लिए ऐसा लगा कि शब्द उसमें समाप्त हो गए हैं। यह शुभ दशा हो सकती थी। लेकिन एक-दो क्षण वह टिकी और फिर जो रिरियाहट का पतनाला खुला उसने मुझे बेसुध कर दिया। मालूम हुआ कि रुपया और चाहिए, और चाहिए। दुःख अनन्त है और मैं सच्चा हूंगा, तो पीछे हटूंगा नहीं। वह जानती नहीं कि मन ही मन मैंने उससे प्यार किया है। लेकिन मुझे भी जानना चाहिए कि उसने मुझे प्यार किया है। उस ने प्रकट किया कि वह मेरी थी और अभी भी है।

मेरे मन में बहुत विचिकित्सा हुई। मैंने छुट्टी पानी चाही। कल्पना न

थी कि मैं छुट्टी चाहूंगा। मैं अपने को देने और देते रहने के भाव से गया था। लेकिन अब अपने को बचाने का भाव डर के मानिन्द मुझमें भर गया। खासा रुपया साथ ले गया था। हाथ बढ़ा कर कहा—"और कितना चाहिए ? लो, यह पाँच सौ और है।"

उसकी आँखें चमक आई। देखा कि उसमें तृष्णा बढ़ती जा रही है। उस काया से जाने क्या फूट कर आसपास भरा जा रहा था कि मुझे लगता था, इस अपनी ओर बढ़ती आती हुई पीब की बाढ़ से हट निकलूँ तो अच्छा है। मैंने अपने में करुणा पैदा की और उस के जोर से वहां खड़ा रह गया। नहीं तो मन भाग ही चुका था।

मैं उसको किसी श्रेणी में नहीं रख सका। जानता हूँ कोई अच्छा नहीं होता, बुरा नहीं होता। साधु नहीं होता, दुष्ट नहीं होता। लेकिन फिर भी प्रत्येक के भीतर कोई तर्क होता है। हरएक एक परिभाषा में आ सकता है। लेकिन भाभी के नाम पर जो मैंने समक्ष पाया, जी हुआ कि जितना हो नोटों के कागज से ढक कर उसे अपने से सदा के लिए ओझल बना दूंगा, उतनी ही मेरी रक्षा होगी।

एकाएक रुकी। फिर कुंठित और स्तब्ध भाव से बोली—"क्या हुआ है तुम्हें ? तुम बोलते नहीं हो, कुछ करते नहीं हो, खड़े के खड़े ही हो! क्या में भिखारन हूं कि रुपया देते हो और चुप हो जाते हो ?"

मैं बोल नहीं सका और देखा कि उसमें रोष उठ रहा है।

"तुम बड़े हो, बड़े बनते हो। क्यों यही न ? मैं तुम्हारे पैसे पर थूकूँगी भी नहीं !"

पैसा ब्लाऊज के नीचे बन्द हो चुका था। थूकने की बात न थी और मैं चुप रहा।

उसने मेरे पैर चूमे थे, मेरे तन की बलैयाँ ली थी। लेकिन अब उसमें मान चढ़ आया और उसने गालियाँ देनी शुरू कर दीं। गालियों के बीच में तत्त्वज्ञान जड़ा हुआ था। जैसे यह कि "पैसा किसी का नहीं होता और

चूस-चूस कर जमा किया जाता है। हम गरीबों, बेहालों की हड्डियों में से पैसा निकलता है। और तुम इस बल पर जाने अपने को क्या समझते हो। ज्ञानी-विज्ञानी बनते हो। समाज को बनाते-चलाते हो। तभी न चुप खड़े हो कि धरमराज ही हो!"

मैं किसी संदर्भ में रख कर उस मानव-प्राणी को नहीं देख सका। मैं उन पारिवारिक या आर्थिक विसंगतियों को ध्यान में नहीं ला सका जिन को कारण मान कर क्रोध उन पर फेंक कर बखेर दिया जा सके। सामने के दृश्य का कोई निराकरण मेरे मन में न उठ सका। और मैं केवल दर्शक बना-गड़ा ही खड़ा रह गया। कोई नाता मेरे और उसके बीच न था, मानो एक अगाध व्यवधान था।।

आया था सोचकर कि उसके जीवन की परिस्थितियाँ मालूम करूंगा। उसकी विकलताएं और विकटताएं काटूंगा। उसको स्वस्थ बना सकूंगा। पर सब तरह का विचार मुझसे छूट गया। किसी भी संदर्भ में रखकर उसको समझने और बिठाने की आवश्यकता मुझमें न रही।

मेरी समझ मुझसे टूट गई। यह अक्षम्य दुर्बलता है, उसके लिए एकदम असह्य है जो समझ को अपना धर्म बना बैठता है और सच को अपनी पूर्णता में अपनाने से अलग और कुछ नहीं चाहता है।

उसका क्रोध और उन्माद बढ़ता गया।

मैं नहीं कह सकता यदि इन्तजाम पहले से था। मैंने देखा, उस कमरे में तहमद बांधे ढीले कुर्ते वाला एक आदमी एकाएक आ खड़ा हुआ है। कान उसके घिसे-पीटे हैं और गले में तावीज है।

उसके आते ही बोली—"तुम कैसे हो जी? देखो न अन्दर कौन आ जाता है और तुम ऊंघते रह जाते हो!"

उस आदमी ने कहा, "क्या है बाबू?"

मेरे मन में शायद आतंक उत्पन्न नहीं हुआ। यह इसलिए मानता हूं कि उस आदमी में कोई बढ़ावा नजर नहीं आया। सामान्य भाव से पूछा, "तुम क्यों हो भाई यहाँ, और इनके क्या लगते हो?"

वह बोला, "तुम कौन होते हो ?"

मैंने पूछा, "सन्तरी-चौकीदार हो ?"

"तुम अपना काम देखो बाबू और चले जाओ। नहीं तो हम नहीं जानेगा।"

मैंने उस आदमी के बर्ताव में से रस लिया। मैं उसको एक पक्के संदर्भ में, मानो एक खाने में, रख सकता था। इसलिए कोई विभीषिका वहाँ से मैं नहीं पा सका। डर या खीझ उससे है जिसकी समझ नहीं है। मैंने कहा, "तुमको रुपए की जरूरत नहीं है ? इनको तो है।"

"तुम जाएगा नहीं ?"

"अभी मेरे पास रुपया है। दिए बगैर कैसे जा सकता हूं।"

उस आदमी ने हाथ फैलाया, बोला, "लाओ, इदर दो।"

"तुमको मैं नहीं जानता हूं। इनको देने आया हूं।"

"यह ससाला तुम्हारा खालाजान लगता है ! तुम रुपया देगा और भाग जाएंगा। सुनता है ?"

तब पहली बार मैंने उस स्त्री को सम्बोधन कर के कहा, "सुनो ! इस आदमी को कह दो, वह बाहर चला जाए।"

स्त्री ने मेरी तरफ देखा। उसमें क्रोध था कि क्या था, मैं सही जान नहीं सका। मानो प्रगट करना चाहती हो कि वह आदमी उस को मुझसे अधिक प्रिय है। इस प्रगटीकरण में जो एक प्रत्यक्ष धृष्ट भाव था, मानो वह उसका रस पी रही थी। मानो वह उस दृष्टि के द्वारा उस समूचे वर्ग को अंगूठा बता रही थी जो मुझसा सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित है। बोली—"वह क्यों जाए ? इसलिए कि तुम रौब जमाओ और हमें बेइज्जत करो। यह मत समझ लेना कि कोई हम पर रखवाला नहीं है।"

मैंने यथाशक्य प्रकृत रह कर कहा—"मुझे रुपया देना है ना। रुपया अच्छी चीज नहीं होती है। इसलिए कह दो कि वह बाहर जाए।"

"जाओ, जुम्मन ! जरा बाहर जाओ।" उसके बाहर जाने पर बोली, "उसका और मेरा रुपया अब दो नहीं है। . . . तुम अब तक भोले हो। रुपया जेब में भर कर ऐसी जगह आते हो ?"

यह उसने क्या कहा ?—सुन कर मैं भीतर तक हिल गया। इसी से कहता हूं कि श्रेणियों में कोई आता नहीं है, प्रत्येक स्वयं होता है।

अपने साथ जोर लगाकर कहा, "हाँ, गलती की, रुपया साथ लाया। रुपए से उद्धार नहीं हो सकता।"

वह हल्के हंसी। बड़ी कटी-कटी और करुण हंसी थी। बोली, "तुम उस वक्त भी बड़े भोले थे। कब तक यों भोले बने रहोगे ? जिन्दगी बड़ी टेढ़ी चीज हैं . . . क्यों, मुझको सामने नहीं देखते हो ? तुम जिन्दगी को सीधा समझते हो। अरे भाई बड़ी आड़ी-टेढ़ी गलियाँ हैं इसमें, और मैं उनमें कहाँ कहाँ घूमी हूं, बता नहीं सकती हूं ! . . . तुम उद्धार करोगे। अच्छी बात सोचते हो। लेकिन उससे अच्छा यह होगा कि तुम उद्धार की बात सोचना छोड़ दो। वह सब नहीं होगा। पैसे से और भी नहीं होगा।. . .मैं ठगिनी बन गई हूं, और पैसा ठगना मेरा काम है। . . . पैसे बिना कुछ नहीं होता है और पैसे से बड़ा मजा होता है। यह बात भरे-पूरे रईस घर में जनम लेने से मैंने सीख ली थी। फिर क्या हुआ ? . . . वह सब जाने दो। तुमने यह सब नहीं पूछा और आते ही रुपया सामने किया, यह शायद समझदारी ही की। लेकिन बड़ी भोली समझदारी है यह। और—और तुम कितने भी बड़े गिने जाते हो, बड़े ही भोले बाबा हो। सच कहती हूं, तब का मासूम और अल्हड़ सेन मुझे अब तक भूला नहीं है। जानती और सुनती रही थी कि तुम बड़े नामी आदमी बन गए हो और मैं जाने किस फेर में पड़ कर चालाकी पर चालाकी सीखती जाती थी। सोचती थी, तुमसे मिलूंगी। तुम्हें ठगूँगी। तुम्हारी जेब काटूंगी। हाय ! तुमने वह सब मजा मेरे लिए किरकिरा कर दिया है। क्या ठगूं तुम्हें ! तुम तो तभी के वही के वही भोलानाथ हो। क्यों जी, विद्वान ऐसे ही बुद्धू हुआ करते हैं ?"

मैं पसीजता आ रहा था। मैंने कहा, "भाभी !"

"मरने दे उस राँड भाभी को," वह बोली, "वह भाभी तेरी मर-खप गई। उसमें सपने थे और वह आसमान के तारों की सोचती थी। तू बड़ा ही भोला है। चल, भूल जा उसे। याद रख इसको जो अब तेरे सामने है। और उसके पास से तू जितनी जल्दी हट जाए, अच्छा है। यह ले अपने हजार रुपए। यहाँ गड्ढा ऐसा है कि जितने हजार डालेगा, सब खुट जाएगा। देख, जुम्मन को कह दूँगी कि तू जितना लाया था, सब छिना गया है। कुछ उसे अन्दाज मत होने दीजो कि तेरे पास कुछ है। आ के कहेगा, रुपया कहाँ है ? मैं कहूंगी, नहीं है। वह मानेगा नहीं, फिर देखेगा कि सचमुच नहीं है तो मुझे मार-मार के बेहाल कर देगा। सच, वह मुझे प्यार करता है और अम्मीजान कहता है। मेरे लिए क्या नहीं कर सकता वह, वक्त पर शायद जान भी दे सकता है। नहीं, तुम इस जात को नहीं जानते हो। इसलिए रुपया हुआ न हुआ एक-सा है। लो मेरे भोले राम, यह लो और चले जाओ। और अपनी भाभी को हमेशा के लिए भूल जाना। इसीलिए बुलाया था कि तुम्हारे मन में से भाभी को मैं अपने हाथों से खतम कर दूंगी। खतम करने वाली थी करनी से, अब कथनी ही रह गई है !...जाने कौन मुझ में से कहता रहा था कि एक तुम हो जिसमें अब तक वह सपने वाली बची हुई है। उस तुम्हारी याद में जीने की वजह से मैं मर नहीं पाती थी। आज मैंने उसको मारकर खतम करने की कोशिश में कुछ उठा नहीं रखा है। नहीं, वह बुरी नहीं थी। उस बिचारी की याद में मैं भी कभी कभी आँसू बहाती हूं। बहुत हो तो तुम भी दो आँसू बहा लेना। लेकिन समझ लेना कि वह राँड मर गई है। और अब जो जुम्मन की अम्मीजान है, उस की तू फिकर न करना। उसका कुछ न कुछ बन बना जायगा, और पैसे की जुगत-विगत कुछ ना कुछ होती ही जाएगी। अब जाओ भैया, तुम जाओ।"

मेरे मुंह से निकला "भाभी ?"

भाभी का चेहरा देखते-देखते सख्त हो आया। उसने पुकारा, "जुम्मन !" और जुम्मन के हाजिर होने पर भाभी ने कहा, "देखो जुम्मन ! रुपया आ गया है और यह शख्स यहीं रुकना चाहता है। जाओ, इसको चाल से बाहर कर आओ। और देखना, आइन्दा यह कभी न अन्दर आ पाए।"

जुम्मन ने कहा, "चलो बाबू, चलो ! खैरियत चाहो तो चुपचाप बस चल दो।"

मैंने डपटकर कहा, "जुम्मन !"

लेकिन भाभी ने और भी जोर से डाँट देकर पुकारा, "जुम्मन ! अबे बुजदिल, डपट सहता है ! इसी वक्त इसे ले जा। और अगर चुपचाप रहे तो छूना नहीं, अड़े-अटके तो कोई जरूरत नहीं कि इस शख्स को जिन्दा बाहर किया जाए।" फिर मेरी तरफ मुखातिब होकर उसने कहा, "सुनो भाई, समझदार होगे तो तुम चुपचाप चले जाओगे और तब जुम्मन छुएगा भी नहीं। जाओ ! खुदा हाफिज !"

× × ×

कह कर दिनेश चुप हो गया। कुछ देर चुप ही रहा। फिर कहा, "यह कुल कहानी है। लेकिन मैं पूछता हूँ कि यह कहानी है ?"

"सेन के कागजों में मिली ?"

"हाँ !लेकिन बेहद बिखरी थी।"

"अरे, बड़ा रंगीला था सेन। हम तो समझते थे..."

○

जुलाई' १९६२

वि—ज्ञान

(नाम अक्सर भाषागत हुआ करते हैं। इस तरह व्यक्तियों पर देश-विदेश की सीमा आ जाती है। इस कथा की दृष्टि से वह इष्ट नहीं है। इसलिए लेखक क्षमा चाहता है कि नामों को उसने भाषा की संज्ञा से हटाकर प्रतीक संज्ञा दे दी है।)

श्री ऐक्स अपने कक्ष में बैठे हैं। समय रात के साढ़े दस का होगा। सामने बड़ी मेज है और उनकी निगाह के नीचे कुछ कागज हैं। आँखों पर मोटा चश्मा है और भवें झूलती हुई। अवस्था भी काफी होनी चाहिए। कक्ष की दीवारों पर तरह-तरह के चार्ट हैं, जिनका अर्थ पाना सहसा मुश्किल है। दुनिया के दो बड़े नक्शे टंगे हैं। एक रिलीफ मैप है जो भूमि दरसाता है। दूसरा सामान्य सार्वजनिक राजनीतिक है जिस पर खास तौर से वायु मार्ग बने हैं और दूरी और समय के अंक दिखाये गये हैं। एक ओर तनिक ऊंचाई पर बड़ा ग्लोब रखा हुआ है। उस पर स्टील की कई रेखाएं मण्डलित हैं, जिनपर बारीक अंक और माप के चिह्न बने हुए हैं। श्री ऐक्स बड़े मनोयोग से अपने सामने की फ़ाइल को देख रहे हैं। हाथ में उनके मोटी लाल-नीली पेन्सिल है, जिससे कभी-कभी निशान करते जाते हैं।

उन्होंने पहले चार्ट को खतम किया। उसे तहाया और सावधानी से अपने बायें रख लिया। फिर दूसरा खोला। उसे उसी तरह गौर से देखा और लाल-नीले निशान लगाकर वहीं बायीं ओर रख लिया। फिर तीसरा,

चौथा, पाँचवां ! उसके बाद मेज के नीचे का बटन दबाया और थोड़ी देर में सेक्रेटरी उपस्थित हुआ।

सेक्रेटरी की अवस्था चालीस होगी। अत्यन्त योग्य और सौम्य मालूम होते हैं। चेहरा तीक्ष्ण और भव्य और संयत।

श्री ऐक्स ने बराबर से एक फाइल सामने ले ली थी। सेक्रेटरी के आने पर उन्होंने आँख ऊपर नहीं की और पूछा, "पाँचों हैं ?"

"जी !"

"सबको देख लिया गया है ?"

"जी !"

"फाइल पूरी हैं ?"

"जी।"

"लेकिन हमको अब एक जगह बदलनी होगी। पेरिस की जगह अल्जीरिया करना होगा।"

"उससे कुछ फर्क पड़ेगा ?"

"जरूर पड़ना चाहिए।"

"फ्रेंच वहाँ भी बोली जाती है—"

जैसे श्री ऐक्स को तनिक असन्तोष हुआ। उन्होंने कागज से निगाह ऊपर की और सेक्रेटरी को देखा। देखकर हल्के मुस्कराये। उस मुस्कराहट में भर्त्सना थी। सेक्रेटरी को जैसे शिक्षा मिली हो, वह नम्र हुआ। श्री ऐक्स ने कहा, "लेकिन भूमि फ्रेंच है और—इस्लामी रुचि भिन्न हो सकती है। पाँचों में कोई अरबी भी जानती है ? अरबी के अलावा वह चाहिए जो तेज हो, मिर्च की तरह।"

सेक्रेटरी कुछ नहीं बोला। वह प्रतीक्षा में खड़ा रह गया।

"मैं यही देख रहा था। शायद हमारे पास जो हैं, उन्हीं में से चुनाव करना होगा। हमें वह चाहिए जो मिजाज की सादा हो, पर वक्त पर मिर्च का स्वाद दे सके। अरबी तो कई जान सकती हैं, लेकिन उतने से नहीं चलेगा !...अफ्रीका बड़ा द्वीप है। भविष्य उसी से बड़ा होने वाला

है। उसके दक्षिणी हिस्से में अंग्रेज हैं, इससे वह तो गिनती का नहीं है। भविष्य वहाँ का भी उत्तर अफ्रीका की तरफ से बनने वाला है। या शायद मध्य से—और वहाँ अरब संस्कृति का प्रभाव है। इस सबको ध्यान में रखना होगा...इनमें से किसी ने कुरान सीखा है ?"

"जी नहीं।"

"हम इतने कच्चे रहकर दुनिया को संभाल नहीं सकेंगे। राजनीतिक दूर नहीं देखता। हम राज नहीं चाहते, राज का विज्ञान चाहते हैं। नीति का भी विज्ञान चाहते हैं। हमको दूर तक देखना होगा। तब बन्दोबस्त सही होगा। यह क्यों है कि इतनियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है और कोई नहीं है जो अल्जीरिया के लिए पूरे सौ नम्बर सही हो। हम उसके लिए कुरान वाली पसन्द करेंगे। और तुम कहते हो कोई वैसी है नहीं। फिजिक्स, तुम जानते हो, कहाँ तक चला गया है। गणित की तनिक चूक वहाँ चल नहीं सकती। चूक से जो चाँद में नहीं पहुँचेगा, वह मौत में जायेगा। इसलिए चाँद पर यान भेजना हो तो निन्यानवे फीसदी से नहीं चलेगा, गणित को सौ फीसदी सही होना होगा। हम लोग 'ऐप्रोक्सीमेशन' से चला लिया करते हैं। नहीं, वह नहीं चलेगा।"

"दो महीने का समय आप दे सकें तो..."

"समय कहाँ है ? स्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। उनपर हमारी पकड़ सही और मजबूत होनी चाहिए। जरा भी ढील नहीं हो सकती।... अच्छा, पेरिस के लिए कौन है, उसे भेजो। देखते हैं अगर उससे चल सकता है।"

सेक्रेटरी ने सिर तनिक नवाया और बिना मुड़े अपनी पीठ की ही ओर वापस कदमों से वह लौटने को हुआ।

"जाओ नहीं, ठहरो। यहीं से असिस्टेण्ट को कह दो। संख्या 'ई' ही है न...बैठ जाओ।"

सेक्रेटरी ने बैठकर वहाँ का अमुक बटन दबाया और यन्त्र में कहा, "संख्या 'ई' यहाँ आयें, बॉस के कमरे में। यह मैं हूं, वहीं से बोलता हूं।"
थोड़ी देर में जो यौवना उपस्थित हुई वे छह फुट के लगभग होंगी। सुन्दर, हंसमुख, चुस्त पोशाक, केश अत्याधुनिक पेरिस फैशन की सज्जा में। आते ही प्रसन्न मुद्रा में सबका अभिवादन किया और प्रतीक्षा में हुई कि आज्ञा की जाय।

श्री ऐक्स ने कहा, "मिस 'ई', मेरा शुभाभिवादन लीजिए। आप उद्यत दीखती हैं। हर कोई कहेगा कि आपके मार्ग में बाधाएं नहीं ठहर पायेंगी। पर परिवर्तन की एक आवश्यकता आ गयी है। अब पेरिस की जगह—," कहकर श्री ऐक्स चुप हो गये। उन्होंने कुमारी 'ई' के चेहरे पर कुछ देखना पहचानना चाहा।
कुमारी ने अनुद्विग्न अखण्डित भाव से कहा, "जी—?"
सहसा श्री ऐक्स ने कहा, "आपने कीलर-काण्ड पढ़ा होगा। ध्यान से पढ़ा है?"
"जी।"
"आप में उस बारे में जो मन्तव्य बना हो, मैं जानना चाहूंगा।"
युवती ने तनिक सोचा, फिर कहा, "मैं समझती हूं, मिस कीलर को सही प्रशिक्षण नहीं मिल सका। उसमें वासना थी, जब कि साधना होनी चाहिए। कंजर्वेटिव-रूल इस तरह खतम नहीं हो सकता।"
"कंजर्वेटिव-रूल खतम करने की जरूरत है, ऐसा आप क्यों कहती हैं?"
"मैं नहीं कहती। लेकिन आशय यदि वह हो तो—"
"आप जानती हैं, हम राजनीति को क्या समझते हैं। भ्रष्टता समझते हैं। तमाम राजनीतिक भ्रष्ट हैं। भ्रष्ट इसलिए कि उनको राज की गर्ज है। और राज राष्ट्रीय होता है। हमको मानव की भाषा में सोचना और काम करना है। पदार्थ विज्ञान पृथिवी को एक गेंद के मानिन्द समझ सकता है। तब क्या हमारा विज्ञान उसे राष्ट्र-खण्डों में ही बंटा हुआ समझता जायेगा? इसलिए हमारी भाषा मानवता की है। लेकिन वहाँ

तक पहुंचने के लिए राजकीय प्रपंचों में से चलना जो पड़ता है, वही हमारी साधना है।"

"जी—"

"कीलर कॉल-गर्ल कही जाती है। अमरीका में कॉल-गर्ल्स से राजनीति चलती है, ऐसा बहुतों का अनुमान है। क्या तुम मानोगी कि तुम कॉल-गर्ल हो ? या आपत्ति करोगी ?"

"हमें शब्दों से ऊपर रहना है। जीवन के मर्म में रमकर रहना है।"

"अगर लोग कहें ?"

"वे कह सकते हैं।"

"तुम कॉल-गर्ल से भिन्न क्यों हो ?"

"काम विज्ञान हमारी साधना है। भोग वासना नहीं है।"

"तुम पेरिस जाने के लिए थीं। अब जाना अल्जीरिया होगा। कार्यक्रम ये बतायेंगे। तुम जाना चाहोगी ? नहीं भी चाह सकती हो।"

"हमें उद्यत रहना है।"

"ठीक।" ऐक्स ने अपना सन्तोष व्यक्त नहीं किया और मानो सहज भाव से कहना शुरू किया, "मुस्लिम सभ्यता में हाल तक बुर्का पसन्द किया जाता था। उससे तुम क्या समझती हो कि स्त्री के विषय में पुरुष की रुचि में अन्तर पड़ता होगा ?"

युवती सोचती रह गयी। उससे कुछ उत्तर नहीं बना।

श्री ऐक्स ने कहा, "पुरुष में स्त्री से यदि दूरी रहे तो क्या उससे चाह में तीव्रता नहीं आ जायेगी ?"

"जी।"

"तीव्रता में क्या माँग में भी अति नहीं होती होगी ?"

"जी !"

"उसमें त्रास देने और त्रास पाने की तबीयत भी नहीं हो आती होगी ?"

"जी।"

"तो तुम क्या समझती हो, तैयार हो ?"

"हर परीक्षा के लिए हमें तैयार रहना है।"
"परीक्षा के लिए तैयार ? वैसी तैयारी में तनाव रहता है। प्रश्न सहजताका है। ऐसा लगे कि जो आ रहा है, सह्यता में से नहीं, सरसता में से आ रहा है। समझती तो हो ?"
"जी।"
"बुर्के में शरीर ढंका रहता है। उसके वक्र और वर्तुल छिप जाते हैं इसलिए क्या यह सम्भव नहीं है कि उनकी माँग बढ़-चढ़ जाती हो ?"
"अवश्य ऐसा होगा।"
"पश्चिम के पुरुष की रुचि कुछ अलग हो सकती है। इकहरापन क्या समझती हो कि अफ्रीका और मध्य एशिया में भी उसी तरह पसन्द किया जाता होगा ?"
"शायद नहीं।"
"तो...तुम्हारे पास अपना टिकट है ?"
'ई' ने अपने बैग में से चमड़े की जिल्द में मढ़ा अपना टिकट निकालकर पेश किया।
श्री ऐक्स ने टिकट लेकर ध्यान से उसे देखा, बोले, "कई जगह कोणों के नाप में अन्तर की आवश्यकता हो सकती है। शरीर के लोच और दबाव में भी। (सेक्रेटरी से, टिकट देते हुए) सुनो, ये तीन अंक जरा चेक करके तो देखो।"
सेक्रेटरी उठा, कहा, "बहुत अच्छा। (कुमारी से) आइए।"
कुमारी एक ओर बढ़ीं जहाँ दो दिशाओं में कई शीशे लगे हुए थे। वह विविध कोणों में हेरे-फेरे जा सकते थे। कुमारी ने उधर बढ़कर अपने शरीर के सारे वस्त्र उतार दिये और सेक्रेटरी ने दीवार में लगे दराज में से दो-तीन प्रकार के यन्त्र निकाले। पहले यन्त्र को वक्ष के नीचे लगाकर धीमे-धीमे उसमें फूंक भरी और काँटे की सुई पर से त्वचा के लोच और दबाव का अंक मालूम किया और वह नोटबुक में दर्ज कर लिया। दूसरे यन्त्र से वक्ष के ढाल का कोण देखा गया और वह भी नोट कर लिया गया। बायीं

टाँगों को स्टूल पर रखने को कहा गया और उस पर से यन्त्र द्वारा पिण्डली के कसाव को नापा गया। फिर दूसरी टाँगपर से पिण्डली और जाँघ के घेरे को नापकर उसका अनुपात निकालकर दर्ज किया गया। उस अनुपात को फिर नितम्ब और वक्ष के घेरे के माप के अनुपात में स्थिर किया गया।

श्री ऐक्स इस बीच दूसरे कागजों की जाँच-पड़ताल में लगे रहे। सेक्रेटरी बतायी गयी उन तीन-चार बातों का चेक-अप पूरा कर चुका तो उसने परिणाम समक्ष लाकर रखा। श्री ऐक्स ने पहले के और इन नये अंकों का मिलान किया और तनिक उनकी भवों में वक्र पड़ा।

सेक्रेटरी ने विनयपूर्वक कहा, "क्या तनिक आप स्वयं देखिएगा ?" ऐसे कहा कि जैसे किंचित कष्ट की कृपा माँगता हो।

श्री ऐक्स ने कहा, "हां वह तो देखना होगा।"

सेक्रेटरी अपनी पहली जगह गया और आइनों के बीच में युवती को खड़ा कर दिया। फिर कुमारी के और आइनों के हेर-फेर से उस शरीर की कुछ भंगिमाएं श्री ऐक्स को दिखायी गयीं, जिन पर वह कभी कुछ कागज पर नोट करते जाते थे। कुल मिलाकर उनके चेहरे पर सन्तोष नहीं दीख रहा था। इस पर कुमारी और सेक्रेटरी दोनो हठात् किंचित निरुत्साहित हो आये।

अनन्तर कक्ष के उस भाग की रोशनियाँ कम कर दी गयीं और कुमारी ने अपने कपड़े पहन लिये। फिर वह आकर सामने मेज के पास ऐसे खड़ी हो गई कि जैसे परीक्षार्थिनी परिणाम के अपने अंक जानना चाहती हो। श्री ऐक्स ने कहा, "हमें कोण को बढ़ाना है और तुम्हारे वक्ष के ढालका कोण उल्टे घट रहा है। यह दुख की बात है। मुस्लिम देशों के लिए बल्कि उसे अतिरिक्त बढ़ा हुआ होना चाहिए। तुम्हारे ब्रह्मचर्य में दोष रहा मालूम होता है।"

"जी नहीं।"

"नहीं कहने से नहीं चलेगा। यन्त्र के आगे तुम्हें कैसे सच माना जा सकता है।"

"मैं...मैं...इस पक्ष में सिर्फ दो के साथ सोयी हूं।"

"यह कौन पूछता है! मैं ब्रह्मचर्य की बात करता हूं। तुम्हें समझ आना चाहिए।"

"मेरे मन में प्रेम नहीं रहा है।"

"सिर्फ इतना काफी नहीं है। मनुष्य का अप्रेम काफी नहीं है। साथ आदर्श का प्रेम उतना ही रहना चाहिए। यह हमारा ब्रह्मचर्य है। यह हमारा काम विज्ञान है, जिसके आधार पर हम नये जगत का निर्माण करना चाहते हैं। अप्रेम तो सब कोई सिखा सकते हैं। वासना सारी अप्रेममें से बनती है। हमें प्रेम चाहिए, लेकिन आदर्श का चाहिए। उसका कण भी व्यक्ति पर व्यय न हो। उसी से सच्ची अनासक्ति प्राप्त हो सकती और दुनिया का निस्तार हो सकता है। तुम लोगों को जानने की आवश्यकता है कि हम स्त्रीत्व से वह महान् कार्य लेना चाहते हैं जो प्रजनन से नहीं सध सकता। न भोगवाले प्यार से सध सकता है। पुरुष और स्त्री के शरीरों के बीच जो विद्युत प्रवाह प्रवर्तमान है, उसी को महान् प्रयोजन में नियोजित करना है। इसमें जिस तरह हम शरीर का इन्कार नहीं सह सकते, उसी तरह शरीर-भोग और शरीर-क्षय का स्वीकार नहीं सह सकते। दो की जगह तुम दस के साथ सोयी हो सकती हो। लेकिन कोई कारण नहीं है कि उससे शरीर का कसाव कम हो। अवश्य उसमें तुमने अपनी ओर से अनुराग का व्यय किया हैं। अन्यथा—"

"जी नहीं, नहीं—"

"कह सकती हो कि तुम पुरुष को प्रेम नहीं करतीं और नहीं किया? पुरुष के उपयोग के लिए ही उसको प्रेम नहीं किया जा सकता।"

"जी, और मैं कह सकती हूं।"

"मैं आशा करूंगा कि तुम्हारा यह कहना आगे यथार्थ में भी प्रमाणित होता है। अभी तुम्हारा वक्षकोण ७२-५७ है। वह इस महीने में पूरे

९०. अंकों का समकोण हो जायेगा तो मैं मानूँगा कि अपने वचन का तुमने सम्मान किया है और हमारे ब्रह्मचर्य के आशय को समझा है। शरीर सबसे बड़ा आयुध है जो प्रकृति से तुम्हें मिला है। उसको शीर्ण होने देना, उस पर क्षति या सलवट आने देना, आज के वैज्ञानिक युग में अपराध होना चाहिए। समझती तो हो न ?"

"जी।"

"अफ्रीका के लोग काले है, बर्बर हैं। लेकिन उनके हाथों में दुनिया का सुनहरा भविष्य है। तुम मन में उनके लिए उत्कण्ठा का भाव ला सकोगी ?"

युवती चुप रह गयी।

"क्यों...कहो, कहो।"

"कठिन है।"

ऐक्स सुनकर ठिठके। कुछ ठहरकर बोले, "तुमने यह कहकर सच कहा है और मैं खुश हूँ। अब सचमुच मान सकता हूँ कि तुमने हमारे मिशन को समझा है। वस्तुओं के क्षेत्र में विज्ञान चलता है। व्यवहार के क्षेत्र में हम भावना को चलाना चाहते हैं। हमारा मिशन यह है कि वहां भी हम विज्ञान को चलाएंगे। ऐसे अधूरी उन्नति समग्र होगी और वस्तु की विपुलता ही हमारे बीच न होगी बल्कि स्वास्थ्य और सौन्दर्य का वैपुल्य भी जगत को प्रसन्न और सम्पन्न कर सकेगा।... शायद मैं गलत कह गया। उत्कण्ठा मुझे नहीं कहना चाहिए था। वह भावना का शब्द है। विज्ञान का शब्द अनासक्ति है। प्रेम में आसक्ति होती है, इसलिए विज्ञान अप्रेम है। मूल अप्रेम में से जो उपयोगवादी औपचारिक कुशलता निकल सकती है, उतना ही मेरा आशय है। गोरे से काले को अधिक प्यार करना होगा, यह मैं नहीं कहता। पर अफ्रीका में जाकर तुम्हें ऐसे वर्तन करना है कि जैसे काले रंग का सचमुच अधिक महत्व है। बोलो. सकोगी ?"

"यह सम्भव दीखता है।"

"कुरान कितने दिन में सीख ले सकती हो ?"

"क्या उसमें अपना पूरा समय देने का अवकाश मिलेगा ?"

"रात नहीं, सिर्फ दिन," कहकर ऐक्स मुस्कराये।

"जल्दी हीं कोशिश करूंगी। लेकिन पेरिस ?..."

"तुम समझदार हो। कुरान में उस सारी जाति के खुलने की कुंजी बन्द है: राजनेता गधे होंगे अगर वे धर्म के इस रहस्य को नहीं जानेंगे। और सुनो, भविष्य के लिए अफ्रीका पहले है, खू श्चेव और रूस बाद में है।"

"पेरिस की जगह आप—रूस क्या कह रहे हैं !"

श्री ऐक्स अपनी खिचड़ी मूछों में मुस्कराये। उस मुस्कराहट से वह गम्भीर चेहरा जो अत्यन्त प्रभावशाली था खिलकर भी मानो तनिक भद्दा हो आया। हंसकर बोले, "पेरिस क्या मास्को की राह में नहीं है ? लेकिन, बस। अब जा सकती हो !"

कुमारी 'ई' के जाने के बाद कुमारियाँ बी, सी, दी, जी के परिचय एवं विगत पर सेक्रेटरी के साथ उनकी चर्चा हुई। यही कि जगत के किन-किन स्थानों पर उन्हें भेजा जायेगा, कितना खर्च होगा, क्या कार्यक्रम रहेगा, कैसे उन्हें परिचय-पत्र दिये जायेंगे, किन विशेष व्यक्तियों और सूचनाओं के लिए यत्न किया जायेगा इत्यादि। इस संक्षिप्त चर्चा के अनन्तर उन चारों कुमारियों को एक साथ कक्ष में बुलाया गया और विधिवत् देह परीक्षा के बाद सबको सफल घोषित करके उन्हें जाने और प्रतीक्षा में रहने को कह दिया गया।

अन्त में सेक्रेटरी ने पूछा, "ड्यूटीपर जानेसे पहले सब अलग अलग आप-को किस क्रम से कैसे मिलें ? फिर सम्मिलित आपकी अन्तिम हिदायतें लेने का तिथि-समय आदि क्या होगा ?"

श्री ऐक्स ने कहा, "अबसे सम्मिलित मिलना ही काफी रहेगा। अलग अलग मिल कर निजी सम्बन्ध की घनिष्टता लाने से हम अपने कामों में अब तक भावात्मक आधार का भी सहारा लेते रहे हैं। अब मुझे लगता है कि

यह हमारी त्रुटि रही है। हमारी कन्याएं मेरे कारण से किसी मार्ग में दृढ़ और उत्साही रहें, इतना काफी नहीं है। उन्हें दृढ़ता विचार के निमित्त से रखनी चाहिए। वही अन्त तक ठहरेगी। मैंने कहीं भारत मे ब्रह्मा-कुमारियों के होने कीं बात पढ़ीं थी। मालूम नहीं ये क्या बला हैं, उनका उद्देश्य कुछ और हो शायद। लेकिन मैं अपनी लडकियों को काल-गर्ल कह सकता हूं। वे मिशन की पुकार पर हर समय और हर कामके लिए उद्यत रहे तो इससे मांगलिक और क्या हो सकता है ?"

सेक्रेटरी ने कहा, "जी...।"

श्री ऐक्स बोले, "तुम जाओगे ? अच्छी बात है। पर सुनता हूँ तुम विवाह कर रहे हो।"

सेक्रेटरी कुछ झेंपा। उसने स्वीकार किया कि हाँ सूचना सच है।

श्री ऐक्स ने उदारता दिखायी और उसी मुस्कराहट से हंसे जिससे उस चेहरे की भव्यता पर जाने तनिक क्या विभास आ जाता था। बोले, "मैं आशा करता था।...

"मैं क्षमा चाहता हूँ, सर—"

सेक्रेटरी ने शीघ्रतापूर्वक कहा।

"क्षमा की बात नहीं। न मांगने की, न देने की। मैं विश्वास करता था कि स्त्री-विज्ञान में तुम आस्था रखते हो। स्त्री को नहीं उसकी अर्थवत्ता को चाहते हो और केवल प्रयोजन के लिए उसे मानते हो। लेकिन..."

"क्षमा करें, सर मैं इस विषय में किसी से बात या उपदेश नहीं चाहता। ऐक्स पर जैसे एकाएक प्रहार पड़ा, जो भीतर तक पहुँच गया। पर समाहित भाव से वे बोले, "ओह। मेरी भूल हुई—"

"सर। एक बात पूछ सकता हुं ?" सेक्रेटरी मैं बाँस को देखकर एक साथ प्रशंसा और करूणा का भाव हुआ था। उसने पूछा, "आपके जीवन में क्या स्त्री प्रयोजन से अधिक बढ़कर कभी कोई आयी ही नहीं ?"

श्री ऐक्स क्षणभर मानो स्थगित रह गये। फिर धीमेसे बोले, "धन्यवाद, तुम जा सकते हो। क्योंकि मैं भी इस बारे में चुप रहूँगा। अतीत को काटकर मैं अपनेसे अलग फेंक चुका हूं।... तुम जा सकते हो !"

इस विधि वह भेजा जायेगा, सेक्रेटरी को यह कल्पना न थी। वह चुपचाप उस उपस्थिति से चला गया।

उसके जाने पर श्री ऐक्स उस द्वार के बन्द पट को ही कुछ देर देखते रह गये। माथा हाथ में आ थमा था। मानो समय उनके बससे खो गया था ऐसे दो मिनट बीते होंगे कि एकाएक छटककर उन्होंने अपने को इस बे-भानता से तोड़ा और आसपास के कागजों में गाड़ लिया!

अ-विज्ञान

आदित्य को आप जानते हैं। श्री आदित्य प्रसन्न राय।

नगर के कुछ नेता वर्ग के लोग आए और सूचना दी, "१८ तारीख को शाम की मेल से मालती जी आ रही हैं। आपके यहाँ ठहरेंगी।"

"मेरे यहाँ।"

"व्यवस्था तो सब है, आखिर हमारे उत्सव की वह अध्यक्ष हैं। हमारा आग्रह भी है। उस व्यवस्था में ठहर सकें तो हमें भी पूरा लाभ मिलेगा। लेकिन उनकी यही आज्ञा है कि आपके यहाँ ठहरेंगी।"

आदित्य ने संकोच से कहा —"उन्हें असुविधा हो सकती है। आप देखते ही हैं!" आशय था कि स्वयं देखिये कि कितनी थोड़ी जगह है और कैसी बेसरोसामान। नागरिकों ने सब समझा। उन्हें सहानुभूति भी हुई उन्हें स्पष्ट हो गया कि मालती जी ने इस निर्णय में भूल की है। लेकिन विवश थे। बोले—"आप चिन्ता न कीजिए। अधिकांश तो उन्हें हमारे उत्सवों में ही रहना है। स्टेशन से हम उन्हें ले आएँगे। दूसरा सब बन्दो-बस्त भी हमारे ऊपर है। शेष आप जो सेवा कहें, हम तत्पर रहेंगे।"

आदित्य से कुछ बोला नहीं गया। नगर के बन्धु चले गए। और वह सोच में पड़ गया। उसे अजब लग रहा था। पन्द्रह बर्ष बीच से गुजर चुके हैं। तब वह मालती को जाना करता था। मालती का ऊँचा स्थान व नाम था। वय में यों नवीना थी और सद्यः विवाहिता थी। पर नेत्री भी थी। वह स्वयं आन्दोलन में नया था और उनकी सेवा में स्वयं सेवक

के तौर पर नियुक्त किया गया था। वह उन्हें ऐसे देखता था कि जैसे दीखे तो धरती के लोग स्वर्ग को देखें। वह ऊपर अभिजात स्तर पर सहज अधिकार के भाव से थिरकती हुई सी चलती थी। आदित्य मानो किनारे खड़ा सम्भ्रम के साथ उन्हें देखता हुआ रह जाता था। उसे यह विश्वास ही न होता था कि वह उसे पहचानती तक हैं। जब होता वह हुक्म देती और आदित्य आज्ञापालन में छोटे-मोटे कामों के लिए झपट कर इधर-उधर दौड़ जाया करता था। वह इतने में ही बड़ा प्रसन्न रहता था। मालती जब कभी उसकी सेवा पर सन्तोष और शाबाशी में जरा मुस्करा देती तो वह जैसे धन्य हो जाता था।

वही आयेंगी और उसके यहाँ ठहरेंगी ? इस बात को वह समझ में या विश्वास में ले ही नहीं पा रहा था।

घर में नौकर नहीं है। स्कूल जाते दो बच्चे और घर का ऊपर से लेकर नीचे तक का सब काम—पत्नी इसी में ही पिसी रहती है। मालती ठाठ की महिला हैं और परिकर के बिना चल नहीं पातीं। बिचारी पत्नी उस सब आतिथ्य का बोझ उठाएगी कैसे ? उसने अन्दर जाकर झिझकते मन से पत्नी से कहा—"अभी जो लोग आए न थे। कह गए हैं कि १८ तारीख को मालती जी आएंगी और यहाँ ठहरेंगी।"

"कौन हैं ? तुम्हारी कोई लगती हैं ?"

"नहीं। तुमने नाम नहीं सुना, बड़ी लीडर हैं।"

"तो यहाँ क्यों ठहरेंगी ? हम तो कोई बड़े नहीं हैं।"

"मालूम नहीं। कह गए हैं कि यहीं ठहरने को लिखा है !"

"तुम उन्हें क्या बहुत जानते हो ?"

"पन्द्रह वर्ष पहले जानता था। पर मैं तो नौकर की तरह था और वे बड़ी आदमिन थीं। कुछ मेरी भी समझ में नहीं आ रहा है।"

"तुम्हीं सोचो, मैं कैसे करूंगी ? दूसरी जगह का इन्तजाम नहीं हो सकता ?"

"इन्तजाम तो सब है ही। सभापति बनकर जो आ रही है, लीडरानी हैं। लेकिन अब बताओ क्या किया जाय ?"

"तुम्हीं ने किया होगा यह कि उन्हें मेरे सिर पर ला बिठाओ। यहाँ काम के मारे वैसे ही मरी जा रही हूँ। लेकिन होगा सो सब हो जायेगा। फिकर न करो।"

लड़के स्कूल गए थे। उसने बढ़कर पत्नी को पीठ पर थपथपाया. कहा—"तभी तो कहता हूँ कि मैं कितना भाग्यवान हूँ।"

"मेरा सिर भाग्यवान हो। अहं...छेड़ो नहीं, मुझे काम करने दो।"

लेकिन आदित्य बड़ी उलजन में था। व्यवस्था वगैरह की ऊपरी बात को तो वह भुला भी सकता था। पत्नी की व्यावहारिकता पर उसे बेहद भरोसा था। पर ये विचार ही उस पर भारी पड़ रहा था कि मालती आयेंगी और यहाँ ठहरेंगी। यहां उनकी आन बान कैसे निभ पायेगी।"

वह सोच में डूब ही गया था। यहाँ तक कि आज पन्द्रह तारीख है, यह बात सहसा उसकी स्मृति में आविष्कार की भाँति उदित हुई। उसने सान्त्वना की साँस ली और आए हुए नेताओं में से एक को फोन किया। कहा—"मेरा तो सौभाग्य था। लेकिन मुझे कहना याद नहीं रहा कि सत्रह तारीख को तो मुझे बाहर जाना पड़ रहा है। अभी समय है, आप मालती जी को सूचित कर सकेंगे।"

उधर से आश्वासन आया कि वह अभी ट्रंक से बात करके देख सकते हैं। मालती जी से जैसा उत्तर आया कह दिया जाएगा।

उसमें धबराहट दब न पा रही थी। पर कभी संयोग भी साथ दे जाता है; अजमेर से एक बन्धु का तार आया और उसने तभी उत्तर दे दिया कि अच्छी बात है, वह फंक्शन पर अजमेर पहुँच जायेगा। उसे सुख हुआ कि कालेज का फंक्शन भी १८ तारीख को ही था। वह इस तरह निःशंक और निश्चिन्त हुआ ही था कि नेता नागरिक ने सूचना दी कि

मालतीजी से बात हो गई है कि आदित्यजी हरगिज बाहर नहीं जाएँगे और वह उनके यहाँ ही ठहरेंगी; दूसरी व्यवस्था बिल्कुल न की जाय। आदित्य ने झुंझलाहट में रुष्ट होकर कह दिया कि उनकी इच्छा है, मेरा जाना अनिवार्य है और खेद है, मैं उनके स्वागत के लिए उपस्थित न रहूंगा।

सच यह है कि वह अपने जाने को समझ नहीं पा रहा था। मालती नगर में आती और कहीं अन्यत्र ठहरतीं तो क्या वह किसी तरह भी अनुपस्थित रहने की सोच सकता था। बल्कि दूर भी होता तो खिंच कर आ जाता। अब जो यह भागा जा रहा है, उसे स्वयं विचित्र लग रहा था। लेकिन जाने कैसी एक अनिवार्यता थी और वह सिर्फ घर के और व्यवस्था के सम्बन्ध से ही न थीं। मानो कुछ था जो उसमें डर उपजाता था।

आखिर सत्रह तारीख की रात की गाड़ी से वह रवाना हो गया। अजमेर में भी जैसे उसे घर से छुट्टी नहीं हुई। फंक्शन निबाहा और फिर वहाँ से वह जयपुर के लिए रवाना हो गया। जानता था कि अजमेर आने की खबर घर में है। जयपुर का तो किसी को पता ही न होगा।

जयपुर में उसे सबसे अच्छे होटल में ठहरना पड़ा। यह भी उसके लिए जरूरी हो गया कि वह अपने को अत्यन्त व्यस्त रखे। मालूम नहीं उसमें कैसा भय और कैसी आशा थी।

आज तारीख उन्नीस हो गई। दिल्ली में मालती का कार्यक्रम अठारह के साथ उन्नीस का भी है। इसलिये वह जयपुर से बीस तारीख तक नहीं लौट सकेगा। सोचने की बात है कि कैसे लौट सकता है। फिर जयपुर में कितना कुछ दर्शनीय है। इस तरह इधर-उधर की व्यस्तताओं से निबट वह कोई पाँच बजे वापिस होटल पहुँचा। पर रिशेप्शन पर उसे अपने कमरे की चाबी न मिली। मालूम हुआ कि कुछ पहले ही कोई आया है, सामान के साथ आया है और चाबी ले गया है।

आने पर पाया कि कमरा अन्दर से बन्द है। उसने बाहर से घंटी दी। एक, दो, फिर तीसरी बार उसने झल्लाहट से देर तक बटन को दबाये रखा।

अन्दर से स्वर आया—"सबर करो, खोलती हूं!"

उस आवाज़ पर वह फ़क रह गया और दरवाजा खुला।

"जल्दी अन्दर आओ। देखते नहीं हो कि मैं..."

आदित्य ठिठका। देखा मालती है। शरीर पर सिर्फ गाऊन है। सिर पर बालों का बेतरतीब जूड़ा पड़े से ज्यादे खड़ा है और शरीर स्नान के जल की बूंदों से अब भी भीगा-मीगा है।

मानो हाथ से पकड़कर उसे अन्दर खींचा गया हो। वह कमरे में आया और तभी दरवाजे को चाबी से बन्द कर दिया गया।

"बैठो, मैं आई।" कहकर मालती तत्काल बाथरूम में चली गई।

आदित्य ने कमरे को देखा, दीवारों को देखा और सामान के अम्बार को देखा। जाने क्या-क्या इधर-उधर सब जगह फैला हुआ था। कुर्सी पर, फर्श पर, बिस्तर पर। आखिर कुछ जरा परे सरकाकर वह बिस्तर पर आकर बैठा। कुछ देर वह सूनी और फटी-सी निगाह से सब ओर देखता रहा। उसी में मेज पर कमरे की चाबी उसे पड़ी हुई दीखी। क्या वह उसे उठाये, दरवाजा खोले और बाहर निकल जाये? बहुत चाहा कि यही करना उचित है, लेकिन वह बैठा का बैठा ही रहा। चार, छः, आठ मिनट हो गये और मालती निकलकर आई, बदन पर वही गाऊन था। बाकी सब दुरुस्त हो गया था। माथे पर बिन्दी आ गई थी, केश संवर चुके थे। यथास्थान पाउडर हो गया था और हल्की-हल्की लिपस्टिक भी हो चुकी थी। आते ही बोली—"तुम जरा अन्दर जाओ, मैं यहाँ कपड़े बदलूंगी!"

आदित्य को कुछ नहीं सूझा। बोल पड़ा—"क्यों जाऊँ मैं?"

"वाह! तब तो क्या ही बात है।" मालती हँसकर बोली—"बैठे रहो मैं यों ही बदले लेती हूं।"

आदित्य पैर पटककर उठा और बाथरूम में चला गया। अन्दर उसे बाहर से होती हुई खिलखिलाहट की हंसी सुनाई दी। वह उसे अन्दर तक काटती चली गई।

अन्दर बाथरूम में वह खड़ा ही था।. ले देकर वहाँ एक स्टूल रखा था जिस पर उसे बैठने की रुचि न हो रही थी। ऐसे खड़े उसे एक-एक पल व्यर्थ और दूभर लगा। पर मिनट पर मिनट निकलते चले गये। आखिर उसने सुना—"आइए, आ जाइये।"

उस आइए, आजाइए के निमन्त्रण पर जाने से वह एकदम इन्कार कर-देना चाहता था। लेकिन अन्दर खड़ा-खड़ा और क्या करे। "आइए आइए!" मालती ने कहा—"डरिये नहीं।"

उसके आने पर झपटकर एक कुर्सी पर के सामान को नीचे पटकते हुए कुर्सी दिखाकर कहा—"तशरीफ रखिये।"

आदित्य बैठा नहीं। कुर्सी की पीठ को हाथ से थामे उसने अपनी भवें तरेरीं और पूछा—"यह क्या है!"

"क्यों, यह मैं हूं। मालती हूं!"

आदित्य को सूझा नहीं और मालती हँस पड़ी।

"सभा का उत्सव हो गया?"

"खाक हो गया। लेकिन तुमसे मतलब?"

"आज तो उन्नीस ही है, आज का भी तो कार्यक्रम था?"

"होगा, मैं क्या जानूं।"

फिर जैसे आदित्य के पास सब कुछ समाप्त हो गया और सूझने के लिए कुछ न रहा। इस स्थिति में फिर उसमें रोष चढ़ा और उसने तैश से पूछा—"फिर आप यहाँ कैसे आईं?"

हँसी में उत्तर आया—"और आप यहाँ कैसे हैं?"

"मैं—मैं कोई अध्यक्ष नहीं हूं।"

"जी, मैं अध्यक्षा हूँ। लेकिन अपनी भी अध्यक्षा हूँ।···अच्छा पहले बैठ जाओ, तब बताऊँगी।"

आदित्य का तनाव कम नहीं हुआ। वह बैठा नहीं। बोला—"तुम...
आप यहाँ क्यों आईं ?

"साफ तो है। तुम्हारे लिए आई हूं।"

"मुझे शर्मिन्दा करने ?"

"हाँ, शर्मिन्दा करने। तुम भागकर आए हो। कायर बनते हो और मैं शर्मिन्दा न करूँ !" फिर कहा—

"अच्छा-अच्छा बैठ जाओ। पीछे नाराज हो लेना।"

कहकर मालती बढ़ती हुई आई। हाथ से आदित्य को पकड़ा और खाली कुर्सी पर बिठा दिया।

आदित्य खड़ा रह सकता तो अपना रोष बिल्कुल कम न होने देता। लेकिन बैठने पर तनाव कम होता हुआ मालूम हुआ। मानो वह एक साथ ढीलने लगा। बोला—"तुम अभी नहाई हो। शायद हाल ही आई हो। कुछ खाया-पिया है ?"

मालती ने भरी साँस छोड़ी। बोली—"ओह, भगवान् ! आखिर कोई तो हुआ जो खाने-पीने की फ़िकर करे। लेकिन आप से तुम कैसे हो गई यह मैं ! आप कहाँ खतम हो गया।"

"ठीक बताओ, कब आईं थीं ?"

"आ ही रही हूं समझो।'

'दिल्ली से ?"

"ऐसी-तैसी दिल्ली से। तुम दिल्ली से यहाँ आए थे ?"

"तो अजमेर से आ रही हो ?"

"और नही तो क्या ? सब आपकी मेहरबानी है !"

"अजमेर से ! यह कैसे हो सकता है !"

"हो सकता ऐसे है—कि मैंने अठारह की रात मेल पकड़ी अजमेर के लिए—"

"और अधिवेशन ?"

"भाड़ में जाय अधिवेशन। भाषण तो मेरा छपा ही था। पढ़ सुनाने के बाद कह दिया कि आगे मैं नहीं ठहर सकती। मुझे जाना होगा।... क्या देखते हो, तुम समझते हो कि मैं वहाँ अधिवेशन के लिए आकर मरी थी दिल्ली में!"

"ठहरो!" आदित्य ने घंटी दबाई और कहा—"चाय-वाय पी लो, फिर बफरती रहना।"

मालती ने हँसकर कहा—"अब सचमुच लगता है, तुम डरते नहीं हो!"

"झूठ कहती हो। तुमसे न डरूंगा? याद करो, कितना तुमने मुझपर हुक्म चलाया है!"

"हुक्म क्या अब नहीं चला सकती?"

"तो मैं भी डरना शुरू कर सकता हूं।"

"डरना शुरू कर सकता हूँ?" मुँह बनाकर आदित्य की चिढ़ निकालती हुई बोली—"ये नहीं कि मुझ पर तुम हुक्म चलाना शुरू कर दो। कैसे मर्द हो, कायर बनकर भागे! इसीलिए तो मुझे यहाँ तक मरना पड़ा। मैं बाघ हूं? भालू हूं? बताओ, क्या हूं?"

"नेत्री हो!"

"नेता आदमी नहीं होता?"

"मुझे तुमने कभी आदमी समझा है?"

"तुम समझते हो कि सिर्फ..."

"—पालतू समझा था!"

मालती के चेहरे पर जैसे एकदम घना बादल छा गया। उस बादल में पानी भरा था। उसकी हँसी काफूर हो गई।

"यह तुम कहते हो?" कहती हुई मालती अपने को रोक न सकी, एक साथ काँपती और बढ़ती हुई वह आई और आदित्य की दोनों कनपटियों को अपनी हथेली में लेकर उस चेहरे को ऊपर उठाकर उसकी आँखों में देखते हुए उसने दोहराया कि तुम ऐसा कहते हो? और कहने के साथ आवेश में आकर उसने आदित्य के मुँह को चूम लिया।

आदित्य का सारा गात लहरा आया। उसने अनुभव किया कि वह इस समय किशोर ही है कि जैसा पन्द्रह वर्ष पहले था।

मालती पीछे हट आई। उसकी वाणी काँप रही थी और आर्द्र थी। और वह बोली—"ऐसा न कहो आदित्य ! तुम भी ऊपर से देखोगे ? मैं·····लेकिन जाने दो, छोड़ो, चाय आ जाने दो ."

इस बीच परिचारिका आई, चाय वगैरह का आर्डर लिया और चली गई।

आदित्य ने पूछा—"अजमेर से कैसे आईं ?"

"टैक्सी करके आई। पैसे की कितनी हत्या हुई, मालूम है ? अजमेर में यह पता लगाते कि तुम जयपुर आये हो, मुझे ग्यारह बज गये। नौ बजे तो पहुंची ही हूंगी। टैक्सी में भी वक्त लगा। तुम्हें मालूम नहीं था कि इसमें मुझे कष्ट होगा !"

"क्या कहती हो ! मुझे मालूम था कि तुम वह बेवकूफी करोगी ?"

"समझते थे, तुम डरोगे और मैं डर तुममें छोड़ दूंगी ? अपने प्रायश्चित से मैं बचूंगी ?"

"बकवास छोड़ो। दिल्ली—घर गईं थीं ?"

"गई थी ? क्यों, ठहरी ही वहां थी !"

"मेरे पीछे ?"

"पीछे क्या होता है ? तुम भले भाग आये, पर घर तो था !"

"घर तुमने देख लिया। अब और मुझे क्या कहना है ?"

"क्या मतलब ?"

"उस घर की तुच्छता में, बेसरोसामानी में, मैं तुम्हें किस मुंह से ठहराता—तुम्ही सोचो।"

"यह तुम क्या बक रहे हो आदित्य ?"

"सच कह रहा हूं।"

"अपना सिर सच कह रहे हो। इसी बूते पर तत्वज्ञानी बनते हो ! अब तक क्या यही सिखाते और सीखे हो कि ये ऊपरी बातें भी कुछ हैं ? सच

कहती हूं, जीजी-जैसी गृहणियां विरली ही होंगी। पहली बार मिलीं। लेकिन उन्होंने बीच में कहीं फर्क ही नहीं मानने दिया।"

"अजमेर का उनसे ही मालूम हुआ होगा।"

"नहीं तो क्या!"

"वह क्या समझती होंगी?"

"समझेंगी वही जो मैं समझा आई हूँ। मैंने कह दिया है कि तुम्हारे पति ने मेरा मन मोह रखा है। अब चले गये हैं तो बताओ मैं यहां कैसे रहूं। बस अभी ढूंढ़ने जा रही हूं। उन्होंने आशीर्वाद के साथ भेजा है कि जाओ, पाओं, और और लौटाकर ले आओ।"

"सच?"

"नहीं तो तुम समझते हो, मैं चोरी-छिप के आती? मैंने उन्हें सब सुना दिया कि कैसे तुम ऊपर आँख उठाकर भी मेरी तरफ नहीं देखते थे। कैसे मैं तुमसे सब काम लेती थी और बिल्कुल परवाह नहीं करती थी। कैसे तुममें कभी आलस नहीं दीखा, न शिकायत, न थकान। वह सब कहने के लिए ही तो मुझे तुम्हारे यहां ठहरना था। तुमसे नहीं, श्रीमती से···और तुमसे जो कहना है, और जिसके लिए मैं मारी-मारी यहाँ तक आई हूँ, वह यह कि तुम्हारा सब तत्वज्ञान झूठा है। तुम्हें सैकड़ों चाहे मानने और पढ़ने वाले मिलें, लेकिन यह एक पढ़ने वाली मैं तुम्हें कहती हूँ, तुम्हारा लिखा सच्चा नहीं है, झूठा हैं। क्योंकि उसके नीचे कुण्ठा है, कायरता है!"

आदित्य अब पूरी तरह विश्वस्त था। इस बात को सुनकर वह मुस्कराया और स्वीकार भाव से बोला—"तुम ठीक कहती हो!"

"यानी तुम कुण्ठा को ठीक समझते हो?"

"यथार्थ अवश्य समझता हूं।" और फिर कहा—

"और यथार्थ को ग़लत कहने से क्या लाभ?"

"मैं तुममें कुण्ठा नहीं रहने दूंगी!"

"है ही, तो तुम क्या करोगी ? या मैं भी क्या करूँगा ? गलत या सही जो भी हूं। आखिर रहना तो मुझे है उसी अपनेपन को लेकर।"

"मेरे सामने तत्त्वज्ञान न छाँटो आदित्य। मैं जाने क्या कर बैठूँगी। सच कहो, मेरे प्रति अपनी चाहत को तुम हमेशा रोककर क्यों रह जाते हो ? तुम्हारी आँखों में मैं तुम्हें पढ़ती रहती थी। मन की मन में रखकर यों तुम सदा बन्द और मन्द ही रहते चले गये। मैं कहती हूं, यह झूठ है। उसके ऊपर भी जो कुछ खड़ा होगा, वह महल भी होगा तो झूठ का ही महल होगा। निषेध में से तुम पूर्णता नहीं पा सकते।"

"अच्छा-अच्छा ठहरो ! वह ठकठक आ गई। बाकी कहना-सुनना पीछे कर लेना।' फिर स्निग्ध भाव से पूछा—

"सच ! तुमने कुछ खाया-पिया नहीं है न।"

"कैसे खाया-पिया होता। तुमने मौका भी दिया हो ? दिल्ली से अजमेर, अजमेर से जयपुर। इस भागाभाग में एक घड़ी भी मुझे अपने लिए कहाँ मिली।"

आदित्य कुछ कहे कि परिचारिका आ गई और चाय शुरू हो गई। बात-बात में आदित्य ने पूछा—"यह सब कष्ट तुमने, मालती, क्यों किया ?"

मालती चुप रही।

आदित्य बोला—"मैं यह सब कैसे उठा सकूँगा ?"

मालती एकाएक तेज हो गई, बोली—"मैं एहसान कर रही हूं जो तुम उठाने की बात कहते हो ! तुम चाहते हो मैं सच बोलूं ?"

आदित्य उस तेजी को समझ न सका। प्रतीक्षा में चुप रह गया।

"कैसे उस सच को तुम सहार सकोगे ?"

आदित्य ने हँसकर कहा—"ज्यादे से ज्यादे यही तो होगा कि यहाँ से भी मुझे भागना होगा।"

"यह न समझना कि पीछे मैं भागकर नहीं आ सकूंगी !"

"इसी से कहता हूं कि फिकर न करो। सच कह डालो।"

"तो सुनो, तुम शब्द की लपेटें देना बहुत सीख गये हो। मैं तुम्हें तुम्हारे निकट नंगा करने आई थीं। सुनते हो, नंगी होने, नंगा करने। इसमें एहसान कहीं किसी तरफ नहीं है। मैं अपने भाषणों और कविताओं के शब्दों में नहीं हूं, जिसे तुम मानते हो। उसी का आदर और आतंक मान सकते हो। उसी तरह तुम भी प्रवक्तृता और तत्वज्ञता के वाक्यों के नीचे जो हो वही हो। सत्य लपेट में नहीं होता।"

आदित्य मुस्कराया। बोला—"यह काम इतना जरूरी था, यानी मुझे मेरी नग्नता दिखाना ? मेरे लिए स्वयं अपनी नग्नता तक आना क्या इतना दुष्कर था कि तुम समय निकालो और दायित्व ओढ़ो ? तुम्हारे मिनिट-मिनिट की कीमत है, क्यों, नहीं ?"

"हो कीमत। लेकिन बाकी सब फालतू है। एक यही काम असली काम का है। सुनो, स्वयं अपनी नग्नता पाना दुष्कर नहीं, असम्भव है। एक अपने को सही-सही सदा दूसरे में देख सकता है। मुझे भी तो अपना आत्मदर्शन चाहिये। दुनिया में असंख्य जन हैं और अपनी सार्वजनिकता में अनगिनत के सम्पर्क में मुझे आना होता है। पर इन पन्द्रह वर्षों में एक तुम्हीं मेरे लिए दुर्गम बने रहे हो। कोई और काम न आ सका और तुम तक ही जो मुझे आना पड़ा, सो इसलिए कि दूसरा कोई इतना निरपेक्ष नहीं दिखाई दिया।

"याद करो, कितनी बार मैं अकेले तुम्हारे बराबर बिस्तर डालकर सोई हूं। तुमसे कोई पर्दा रखने की चेष्टा नहीं की है। फिर भी कभी किसी आशा या अभिलाषा का इशारा मैंने तुम्हारे व्यवहार में नहीं देखा। कभी तो शंका हुई है कि क्या तुम आदमी तक भी हो। लेकिन उसी कारण आज तुम तक आना पड़ा है कि तुम्हारे साथ की परस्परता में मैं अपने को देखूं और तुम अपने को देखो और इस दर्शन में कहीं कोई भी आवरण न रह जाए।"

आदित्य सुनकर मुस्कराया। पूछा—"तुम्हारी कितनी वय है !"

"बस तुम अपनी गिन लो।"

"हम प्रौढ़ होने आए। फिर यह सब क्या हो रहा है ?"

"देखो, आदित्य, अपने को छलो नहीं, बचो नहीं। ऊँचे न बनो। यह सब वह हो रहा है जो वय से बाहर है। जिसको कोई औचित्य अनौचित्य नहीं छू सकता। समय यदि है तो उस सत्य में डूबने के लिए और मर्यादाएँ अगाध में खो जाने के लिए। मैं सदा शिष्टाचार और सदाचार में रहती आई हूं और उसमें भी ऊंचाई पर रहती हूं। उस सब आचार-व्यवहार को मैं खूब जानती हूं। उसकी याद दिलाने न बैठना। भगवान् के आमने-सामने होकर भी क्या वे चीजें बीच में रह जाती हैं ?"

"मालती, तुम्हें क्या हुआ है ?"

"मैंने तुम्हारी हाल की किताब पढ़ी है। तुम समझते हो, उसे मेरे जितना दूसरा कोई समझ सकता है ?"

"लेकिन···"

"लेकिन कुछ नहीं। उसको पढ़कर मैंने देख लिया कि शिष्टाचार से छूटना और कहीं नहीं होगा, होगा तो तुम्हारे साथ हो सकेगा। तुम्हें याद है—"

आदित्य को नहीं याद हुआ कि क्या याद होना चाहिये।

मालती अपने ही वेग में बोलती गई—

"मेरे साथ पाँच युवक थे। क्या कोई तुमसे योग्य था, तुमसे सुन्दर था ? मैंने तुमसे कहा था—छः जनों का पास सिनेमा के लिए मँगा रखना। तुम उस जगह थे कि पासों पर तुम्हें अधिकार था और एक से अधिक मोटरकार तुम्हारी देख-रेख में रहती थी। मैंने कहा—गाड़ी लेकर वहाँ आ जाना और मुझे सिनेमा पहुँचा जाना। तुम आये, उस समय पाँच में से एक अपनी किसी विवशता के कारण साथ नहीं आ सका था। सिनेमा के दरवाजे पर पहुंचकर मैंने सहसा कहा—अरे एक पास फालतू है, लो—इसे वापिस कर आओ। मैंने यह नहीं कहा कि चलो आदित्य, तुम भी चलो। जानती थी, कहूँगी तो तुम खुश होगे और अवश्य चलोगे।

लेकिन मैंने नहीं कहा। और तुम महाराज ऐसे बुद्धू कि चुपचाप पास वापिस कर आये। जरा ये नहीं लगने दिया कि तुम भी आदमी हो और सिनेमा में साथ दे सकते हो। एक बार नहीं, अनेक बार ऐसा हुआ है कि तुमने पास कटाये हैं, कार में मुझको और मेरी भीड़ को ले गये हो, और सिनेमा के द्वार से चुपचाप खिसक आये हो। इतना ही नहीं, पिक्चर खत्म होने पर फिर वापिस पहुँचे हो और हर मेरे साथी को अपनी-अपनी जगह उतारकर तब कहीं डेरे पर लौटे हो।...मैं आई हूं, तुम पर हुक्म चढ़ाया है और तभी तुम स्टोव या कूकर पर मेरे लिए यह-वह बनाने में लग गये हो।...मेरे लिए पलंग बिछा दिया है, ऊपर गद्दा डाल दिया है, तकिया तोशक चादर सब लगा दिया है। मैं आराम से लेट गई हूं। तुमने बराबर में पानी रख दिया है। फिर दरवाजा बन्द किया है और नीचे चटाई डालकर, बिना तकिये, हाथ में किताब लिये गुड़ी-मुड़ी लेट गये हो। लेट गये हो और धीमे-धीमे सो भी गये हो। मैंने यह सब देखा है और कुछ नहीं कहा है, न पूछा है। मैं उस समय भी जानती रही थी कि तुम ग्रेजुएट हो और मैं सिर्फ इण्टर कर पाई हूं। मेरे साथी आवारा हैं, और उनमें कुछ भी ठोस या योग्य नहीं है। लेकिन तुमसे उन सबको और स्वयं अपने को तरजीह देती हुई तुम्हारे सामने से मैं निकलती चली गई हूं और तुम्हें अपनी निगाह से नीच और नाचीज बना छोड़ा है। लेकिन तुममें कभी कोई हिस्स नहीं देखी। न उलहने का भाव कभी तुम पर देखा। जैसे तुम बस जड़ भरत हो।...नहीं, ऐसे न देखो। वह सब मुझे शूल-सा चुभता है। और बेबस मैं यहां आगई हूं और कहती हूं कि मैं घर-गृहस्थी और बाल-बच्चे वाली हूं। लेकिन मान लो कि कोई है जो तुम्हारी है—सदा-सदा..."

आदित्य ने धमकाकर कहा—"मालती !"

मालती मुक्त भाव से हंस पड़ी—"ठीक यही चाहिये। तुम्हें धमकाना आना चाहिये। मालती को सब मानते हैं, वह माननीया बनी है। और तो और, पति महाशय तक उसे माननीय मानने लग गये हैं। कौन

जानता है कि वह प्यासी है, इसके लिए कि कोई उसे धमकाये, उस पर हुक्म चलाये। ऐसा कि पता ही न चले कि हुक्म है और किसका किस पर हुक्म है !"

"सुनो। अब यह सब तमाशा बन्द। कुछ और बात करो।"

'और बात ! अच्छा और बात करती हूं। ये बिखरीं हुई चीजे तुम देख रहे हो। लेकिन वह बक्स अभी तक खुला नहीं हैं। आओ उसे भी खोलती हूँ !"

उठकर मालती ने उस बक्स को खोला और उसकी एक से एक खूबसूरत चीज यहाँ-वहाँ फेंकनी शुरू कर दी। अनन्तर आदित्य को देखकर बोली —"इतना ही सामान आ सका। आखिर कितना बोझ साथ बाँधकर लाती। लेकिन घर में और बहुत सारा है। अनुमान था कि तुम्हारा घर कैसा होगा। इसलिए इतना साथ ले आई हूं कि तुम्हें दिखाऊँ।··· हम लोग घूम-घूमकर सादगी का उपदेश दिया करते हैं। नेता जन जो ठहरे ! उसी उपदेश के काम के बल पर मेरे पास यह सब माल इकट्ठा होता गया है। सादगी के एवज में मिली हुई यह सत्ता-सम्पदा मेरे परिवार में बढ़ती फैलती हीं गई हैं। सोचती थी कि वह सब तुम्हें दिखाऊँगी। बम्बई में कोठी पर आओगे तो और भी देखोगे। मुझे लगता है इसकी तुम्हें जरूरत है।···"

आदित्य थोड़ी देर तो सब सुनता और नाटक का दृश्य देखता रहा। फिर आगे बढ़कर जोर से उसने मालती के हाथ की कलाई कसी और झटके से बाँह खींचकर उसे उठाया। फिर उसी तरह कलाई को पकड़े रहकर यहाँ-वहाँ से छुटपुट चीजों को उठाया और फिर बक्स में डालकर उसने ढकने को बन्द कर दिया। इस बीच उस मुट्ठी की और चेहरे की सख्ती कम नहीं हुई थी।

"ओह, कलाई मुड़ जायेगी। क्या हाथ तोड़ोगे ?"

"सुनो, यह सब सामान ठीक से रखो।"

"क्यों ठीक से रखूं ?"

"उठो और जो कहा है, करो।"

मालती ने आदित्य को देखा। चेहरा वह कठोर था। मालती चुपचाप फैली एक-एक चीज संगवाने लगी।

आदित्य सोफा कुर्सी में बैठा झुक-झुकर चीजों को उठाती, तहाती, संगवाती और करीने से संवार-संवारकर रखती हुई मालती को देखता रहा। फिर एकाएक वह हँस पड़ा। मालती ने झटककर पूछा—"तुम क्यों हँसते हो?"

"तुम काम जो कर रही हो।"

"कोई नई बात है कि कर रही हूँ!"

"नई नहीं है? अच्छा छोड़ो। बाकी मैं ठीक कर दूंगा। तुम आओ, बैठो।"

मालती ने उलटकर पूछा—"बाकी ऐसे ही छोड़ दूँ?"

"हाँ, छोड़ दो। मैं सँभाल दूँगा।"

"अच्छा लो...कहाँ बैठूँ?"

"आओ यहाँ, बराबर में कुर्सी की बाँह पर बैठो।"

"मैं तो अलग बैठूँगी, वहाँ पलंग पर।"

आदित्य मुस्कराया—"अच्छा, वहाँ बैठो।"

"नहीं, नाराज़ न हो। लो, तुम्हारे बराबर बेठे जाती हूं।" कह कर वह वहीं कुर्सी की बाँह पर आ बैठी और एक हाथ आदित्य के कन्धे पर डाल दिया। बोली—"लो, बैठ गई। लेकिन ऐसे बात तो हो नहीं सकती। छेड़-छाड़ भले हो जाय।"

"बात क्या करनी है?"

"बात ही तो करनी है।"

"अच्छी बात है, तो सामने पलंग पर बैठ जाओ।"

मालती पलंग पर आ गई और बोली—"एक बात पूछू?"

"पूछो।"

"इस वक्त तुम मर्द हो। सच कहना, हो कि नहीं?"

"क्यों नहीं, अवश्य हूँ। और था कब नहीं?"

"यह बताओ, पुरुष-स्त्री विज्ञान में नर-मादा हैं न?"

"शायद हैं।"

शायद क्यों कहते हो?"

"कहना पड़ता है।"

"किस वजह से कहना पड़ता है?"

"उस आदित्य की वजह से जो पन्द्रह वर्ष पहले वह तुम्हारे लिए था।"

"वह क्या था? उसमें इच्छा नहीं थी? आकर्षण नहीं था?"

"था! बहुत था! वहुत इच्छा थी! बहुत आकर्षण था। इतना कि बेहद और शायद उसी कारण न मैं नर था, न तुम मादा।"

"क्या कह रहे हो?"

"सच कह रहा हूं। तुम देवी थीं, और मैं उपासक। और विज्ञान हमारे बीच में से पार हो चुका था। देवी तक चाह जाकर बना क्या सकती है? क्या देवी से शिकायत हो सकती है? उस पर अधिकार हो सकता है? उसे छुआ तक जा सकता है?"

"लेकिन मैं देवी नहीं थी।"

"यह अभी तो तुम बता रही हो, और मैं जान रहा हूं। पन्द्रह वर्ष पहले तो मेरे लिए और कुछ जानना सम्भव ही न था और आज भी कहता हूं तुमसे कि वही जानना सत्य था। वही था जो अब तक मुझमें टिका रह गया है। अवैज्ञानिक कहो, कह दो। लेकिन उस सत्य को तुम भी मुझमें से नहीं तोड़ सकती।"

"यानी मैं तुम्हारे लिए नारी नहीं बन सकती?"

"हाँ, मैं नहीं बनने दे सकता।"

"इसी रोमाँटिक प्लैटोनिक को तुम सच कहते हो? तुम भ्रम में हो।"

"अपने भ्रम को तुम कितना ही तोड़ो और मेरे भ्रम को भी चाहे चकचूर कर दो, लेकिन कोई स्त्री-पुरुष आपस में नर-मादा बनकर नहीं रहना

सकते। लाख वैज्ञानिक और निर्भ्रम होने की कोशिश करो। यह नहीं हो सकता।"

"लेकिन क्या यह झूठ नहीं है कि मैं देवी हूं ? सरासर झूठ है। जो जो मेरे मन में उगता रहा है वह सामने खुले तो तुम्हें भी पता चल जाए, मैं क्या हूं। मैं कहती हूं कि शब्दों की लपेट में ही सत्य को न रखो। लपेट को हटाओ और यथार्थ को दीखने दो। वही है जो टिकेगा। सपना टूट जायेगा। मत रखो सपने को। आओ उसे टूटने दो।"

आदित्य अपनी जगह से उठा। मेज पर पड़ी चाबी उठाई और दर्वाजे में अन्दर से ताला बन्द कर दिया। आकर उसने मालती को दोनों बाँहों में पकड़कर पलंगपर से उठाया और सामने दूसरी कुर्सी को खींचकर उस पर बिठा दिया। खुद भी आगे आ बैठा और अब उसने अपने दोनों हाथ मालती के घुटने पर रख दिये। बोला—"मालती, तुम उस चाह को नहीं जान सकतीं जो मुझमें तुम्हारे लिए रही है। उसको मैं अणु भर भी कम करने के लिए तैयार नहीं हूँ। पन्द्रह वर्ष बीच के और डेढ़ वर्ष मेरे तुम्हारे साथ के। इन सोलह-सत्रह वर्षों तक वह चीज मेरे अन्दर टिकी रही है।...दरवाजा बन्द है।...मैं अपने कपड़े उतारकर फेंक सकता हूं। तुम्हारे भी, तुम्हारे शरीर से इसी क्षण फाड़कर अलग कर सकता हूं।...फिर पाँच-दस मिनट बाद हम आपस में अघा चुके होंगे। तुम समझती हो कि वे पाँच मिनट टिकेंगे और ये सारे सोलह-सत्रह वर्ष व्यर्थ हो जाएँगे ? कहता हूँ कि वे पाँच मिनट होकर बीत जायेंगे, शायद याद में रह भी जायें, लेकिन दुःखते हुए रहेंगे। और क्या तुम यकीन नहीं कर सकती हो कि ये पिछले सोलह-सत्रह वर्ष मेरे साथ तुम्हारे कारण टीस के ही चाहे रहे हों, पर सुख के भी रहे हैं !"

"यानी तुम साहस नहीं कर सकते ? और कुण्ठा को ही अपनाये रहना चाहते हो ?" कहते हुए मालती ने आदित्य के दोनों हाथों को नोचकर अपने से अलग कर दिया।

"शायद !"

सुनकर मालती फनफनाती हुई खड़ी हो गई। बोली—"तुम मुस्करा रहे हो ! क्या ऐसे मेरा अपमान करना चाहते हो ?

आदित्य भी अपनी जगह से उठ आया। उसने बाँह डालकर कन्धे से मालती को सँभाला। कहा—"अभी सात भी नहीं बजा है। अच्छा सुहावना होगा बाहर। आओ, कहीं चलें।"

आदित्य की बाँह को अलग फेंकते हुए मालती ने कहा—"हटो, मुझे नहीं जाना है कहीं। मैंने देख लिया तुम्हें, नीच, पाखंडी !"

आदित्य ने घुटने बैठकर अत्यन्त आदर से मालती के दाहिने हाथ को लिया और उँगलियों के पोरों को बहुत हल्के से चूमा। कहा—"कैसी रानी हो, आओ चलें। चलोगी ?"

मालती की आँखों में देखते-देखते आँसू भर आये। धीरे-धारे वह ढरने भी लगे। लेकिन फिर उसने अपने को थामकर कहा—"चलो!…तुम कहते हो तो चलो ! पर सुन लो, तुम देवता हो सकते हो, मैं देवी नहीं हो सकती।"

इस बार आदित्य ने अपनी दोनों हथेलियों के बीच मालती के दोनों हाथों को थामा और उन्हें अपने ओठों तक ले लिया बोला—"तुम देवी न होतीं तो क्या मुझ जैसा कापुरुष अपने वश में रह सकता था ?… आओ, चलो !"

और दोनों द्वार खोल बाहर के खुले में नगर की ओर निकल गये।

●

अगस्त' १९६३

सबकी ख़बर

परिचय : शंकर नारायण। आयु : व्यालीस वर्ष। ऊँची सरकारी नौकरी से विमुक्त। अब प्रवक्ता, पत्रकार, समीक्षक और अध्येता। सम्पन्न। समाज और सम्बन्धियों की ओर से हीन और उदासीन। स्वस्थ, संकल्पशील और सुसम्य। बुद्धिवादी और निषेधों से मुक्त।
समय : रात का तीन बजा है। बंगला सो रहा है और ड्राइंग रूम में रोशनी है। एक लैम्प मेज पर रखा है और वह भी रोशन है। नारायण लिख रहा है।
पूर्वाभास : क्लब से ग्यारह बजे वह लौटा था। वहाँ उसे बोलना था और पीछे प्रश्न भी हुए थे। पत्नी को भी जाना था, पर समय पर वह अनमनी दीखी और न जाने के लिए नहीं गई। पत्नी की अवस्था २६-२७ वर्ष की है और वह क्रम में चौथी है। इस विवाह को दो वर्ष होने वाला है। विवाह विधि-विधान वाला नहीं हुआ, परस्पर की स्वीकृतियों से हुआ था। दोनों ओर अन्य प्रेमी और पति वर्तमान हैं, यद्यपि वे वृत्त से बाहर हैं। आने पर दोनों में कहा-सुन हुई जो तेजी पकड़ती गई। साढे बारह बजे तक उसने घोर रूप ले लिया। बात मार तक आई। फिर शंकर की ओर से संधि का पग बढ़ा और स्थिति एकदम प्यार में आ डूबी। लेकिन प्यार के बीच भी शंकर विचार में रहा। ढाई बजे तक सब सन्नाटा हो गया। शंकर सोया बन गया था और पत्नी भी श्लथ होकर सो गई थी। ढाई बजने पर शंकर उठा। पानी पिया, गाऊन पहना, पैन्ट्री में जाकर कुछ फल-बिस्कुट निकाल कर खाया, फिर ड्राइंग-रूम में आकर रोशनी की ओर बालों में हाथ लेकर कुछ देर घूमता रहा।

फिर उसने दरवाजे की अन्दर से चिटखनी बन्द की और और भी तेज कदमों से घूमने लगा। अब तीन बजा है, वह मेज पर बैठा है और कागज पर अपने को खाली करने की कोशिश कर रहा है। खाली से मतलब अपने साथ समझौते पर आने की। वह ऐसा नाराज है कि नाराजी में कोई बिन्दु उसे नहीं मिल रहा है। वह चहुं ओर मानों अनन्त तक व्याप्त है वह नाराजी और उतनी ही अपने साथ है जितनी शेष सबके साथ। वह खुद राजी रहने और राजी रखने के सिद्धान्त को ही मानता और माने रखना चाहता है। पर वही चीज एकदम असंभव लगती है और नाराजी ही एक उपाय रह जाता है जीने का।

× × ×

यह फिर लड़ाई ! क्या रोज-रोज यही चलेगा ? ठीक है, सेक्स आ गया और सब शान्त हो गया। यह भी ठीक है कि मैं यह जानता हूँ और तनाव के सिरे पर पहुंच कर अपनी ओर से गल आता हूँ और सेक्स को बीच में आसानी से ले आता हूं और उपाय हो जाता है। लेकिन...... लेकिन यह उपाय नहीं है ! रोज़-रोज़ के झमेले से निस्तार का यह उपाय नहीं है। यह तो इस दिन को अगले दिन पर टालते जाना है। नहीं, यह नहीं चलेगा। फिर ?

यह चौथी पत्नी है। पत्नी ही कहना चाहिए। यद्यपि हम आपस में बँधे नहीं हैं और आजाद माने जाते हैं। फिर भी बँधे हैं। नहीं तो लड़ाई शुरू होते ही एक-दूसरे को आजाद क्यों नहीं कर देते ? क्यों एक-दूसरे पर चीखने लगते हैं ? यह क्या है जो हमें बाँधता है ? मुझे लाख दफे चुप रह कर अलग हो जाना मंजूर है, मंजूर होना चाहिए, वजाय इसके कि मुँह से मैं सख्त लफ़ज निकालूँ और जली कटीं कहूँ। लेकिन वही हो गुज-रता है। हम एक-दूसरे को लफ्जों से नोचते हैं, काटते हैं, लहू लूहान करते हैं और पीछे मैं अपने को कहता हूं कि यह मेरी क्या बहशियाना हरकत थी ? यही शायद वह अपने को कहती होगी ! यह मजबूरी हमारे बीच में कहाँ से आ गई ? हमने तय किया था कि हमारे बीच राह-रस्म

कोई न होगी ! सिर्फ मोहब्बत होगी। रिवाज-रस्म कोई नहीं है, मगर बीच में मोहब्बत भी नहीं है। फिर क्या है जो हमको एक और इकट्ठा रखता है ? और इस तरह एक झूठ को खड़ा किये रहता है, उसे गिरने नहीं देता ? वह क्या है ?

क्या-आ ? चौथे ब्याह को भी तोड़ दूँ ? मानता हूँ ब्याह नहीं है, ब्याह का प्रयोग है। तोड़ना उसका मुश्किल नहीं होगा और बीच में अदालत नहीं आयेगी। लेकिन तोड़ दूँ और हार मान लूँ ? मान लिया कि बीच में मोहब्बत के अलावा भी कुछ आ गया है। शायद नफरत आ गई है। शायद जो मीठा था, वही खट्टा हो गया है। यह भी हो सकता है कि जो खट्टा और कड़वा है, वह रस नहीं है। और अगर रस नहीं है तो सम्बन्ध को जारी रखना गलत हो जाता है। आखिर पाप इसके सिवा क्या है कि हम बाहर पेश करते हैं वह जो असलियत नहीं है, यानि झूठ को सच का बाना पहनाते हैं !···लेकिन क्या मैं अकेला रह सकता हूं ?

जानता हूं, रूप बाहर वहुत है और उसको खुद प्यार की माँग है और पांचवा रिश्ता मेरे लिए मुश्किल न होगा। लेकिन चौथा टूटेगा तो पांचवां भी टूट सकता है, और ऐसे इसका अन्त कब और क्या आयेगा ? यही चीज है जो मुझे रोक रही है। फिर भी रुकना क्या सही है ? जिन्दगी उसको नहीं कहते हैं कि जो रुक जाती है। सच वह नहीं होता जो रोकता है। जरूर कुछ कमजोरी है जो मुझको या हमको रोकती है। लगता है कि दुनिया का लिहाज मेरे मन में होने लग गया है। नहीं तो इधर छः महीनों से मैं देख रहा हूँ कि पानी हमारे बीच से खिसक गया है और बीच में रेत आ फैली है। फिर भी हम निबाहे जा रहे हैं। क्यों निबाहे जा रहे हैं ? इसलिए कि नहीं तो दुनिया क्या कहेगी ? नहीं तो और क्या वजह हो सकती है।

वजह पैसा भी हो सकता है। लेकिन मैंने कब पैसे की परवाह की है ? तिशना को मैं कह सकता हूं कि जो है सब तुम्हारा है। यह मकान तुम

रख सकती हो और बैंक-एकाउंट और कैश सर्टिफिकेट और फर्निचर और सब ।सिर्फ मुझको छोड़ देना होगा । लेकिन मैं जानता हूँ कि छोड़ने की बात आयेगी तो तिशना एक पाई नहीं छूयेगी ! मैंने उसका नाम तृषना रखा हैं और तिशना कहता हूँ। तिशना अच्छा लगता है । उसमें बहुत प्यास है । उसकी छब्बीसवीं वर्ष गाँठ कुछ पहले बीती थी तो वह प्यास कैसी उमग कर किनारे तक भर आयी थी और मुझे अपने बारे में याद करना पड़ा था कि मैं ब्यालीस हूं । उसको मेरे दिमाग पर फख्र था । जैसे दिमाग हो जिसके साथ रहना हुआ करता है । उसने जब देखा कि दिमाग जितना तेज है, देह में उतनीं तेजी नहीं है, तो यह उसको कैसा लगा होगा । वह दिमागियत को पसंद करने वाली औरत है और खुद दिमाग में उठे रहना चाहती है । लेकिन...लेकिन चीजों से और शोहरत से और दिमागियत से उस माँग को कैसे भरा जा सकता हैं, जो—और मैं ये जानता हूँ । शायद वह भी ये जानती है । लेकिन हम दोनों में से इस चीज को मानने को कोई तैयार न होगा और तिशना दिखाती रहेगी कि उसकी भूख दिमागी है और वही एक चीज थी कि जिसने ऐथ-लीट खाविंद को छोड़कर उसे मेरी तरफ रागिब किया । मैं उसके इस ख्याल को तोड़ नहीं सकता हूँ । और इसलिए जरूर वह दिमागी पाइंट होना चाहिए कि जिस पर झगड़े की बिना खड़ी की जाए और तिशना को जीतने दिया जाय ।

लेकिन यह सब बखेड़ा है । मैं साठ से आगे नहीं जी सकता । काम बहुत पड़ा है और उम्र थोड़ी रह गई है । मैं बीवी वह चाहता हूँ जो आराम दे, यों खुद में सिफ़र बनीं रहे । आती हैं तो शुरू में सब ऐसी ही मालूम होती हैं । लेकिन फिर दावे बनने लग जाते हैं और जिन्दगी मुहाल हो जाती है । मेरी जिन्दगी से लोगों को उम्मीदें हैं और मुझे खुद उस बारे में काफी गुमान है । लेकिन वह सब एक तरफ हट जाता है और छोटी-छोटी बातों में जिन्दगी बेकार घुलती रह जाती है । मैं कुछ किया चाहता हूँ । बहुत कुछ किया चाहता हूँ । इन झगड़ों-झमेलों में सर्फ होना नहीं

चाहता हूँ। औरत मर्द के लिए जरूरत है, यह सही है। लेकिन औरत को मुसीबत नहीं बनने दिया जा सकता।...क्यों जी, यह किस्सा ही जिन्दगी में से खत्म कर दिया जाय तो कैसा है? सिलसिला ही शुरू न हो, हक का और दावे का! लीजिये आपके साथ मजे से रात गुजरी है और यह अपना पैसा थामिये। वह अपनी जगह खुश और हम अपनी जगह राजी। वक्त के सौदे के बजाय यह जिन्दगी का सौदा किस काम का? आप ग्यारह बजे आ रहे हैं और घर पर झगड़ा तैयार है। हम ग्यारह क्यों, दो बजे आएँगे। चार बजे आयेंगे। जो चाहें करेंगे! पीयेंगे, खायेंगे, प्यार करेंगे। आराम करेंगे। आप घर में हैं तो जो चाहे शौक फरमाइये। आराम कीजिए, मजे में सोइए। या आपकी अलग गाड़ी है तो सैर सपाटा कर आइये। यह क्या कि आजादी में खलल डालते हैं। आखिर जिन्दगी तजरबे के लिए है। हक की तलाश के लिए है। और मर्द है तो उसके सामने मैदान है। जिन्दगी को शादी के सिलसिले से किसी की मुट्ठी में दे देने की क्या मानी होते हैं? ऐसे जिन्दगी के मानी एक ही रह जाते हैं कि कोल्हू में जुतकर बस आखिरी दिन तक एक ही चक्कर में चकराए जाइये। और वह दिन आ जाए कि वहीं ढेर हो जाइये!

जी नहीं। मुझे वह मंजूर नहीं है। तिशना, प्रमीला, रेवती, चम्पो··· सच यह कि मैं सिलसिले को याद में लाना नहीं चाहता। आखिर क्या होता अगर मैं चम्पो का ख्याल करता और अपनी जिन्दगी का ख्याल न करता। आज आखिर मैं कुछ तो हूं। यह—यह सब कुछ हैं, बंगला है, सामान है और नाम भी है। तो क्या इसीलिए नहीं कि मैंने अपने को इन्कार करने से इन्कार कर दिया। चम्पो आज भी है, मुझे मालूम नहीं, लेकिन अपने तौर पर मजे में ही होगी। फिर रेवती आई और वह गई। लेकिन मैं क्या कर सकता था? प्रमीला से मुझे बहुत उम्मीदें थीं। कभी न सोचा था कि वह भी सिर्फ औरत निकलेगी। और अब यह तिशना, जो सदा तिश्ना-लब रहती है—घर में उससे सदा जगमगा-

हट है। किस कदर शिगुफ्ता है, और ताजा है और हसीन है। लेकिन किसी की जिन्दगी पर आड़े आ जाए तो क्या किया जाए ?···मुझे तो मालूम होता हैं कि जिन्दगी का सौदा करना ही गलत है। रिश्ता वक्त का और मतलब का ही हो सकता है। उससे हरेक की आजादी उसके अपने पास बनी रहती है और रिश्तों में उलझ नहीं हो पाती।

लोग हैं जो चीज को और तरफ से देखते हैं। वे शायद समाज की तरफ से देखते हैं। ऐसे लोगों से मैं बाज आया। उन्हें मैं मुँह नहीं लगने देना चाहता हूं। वे मुझ से बचना चाहते हैं और यह मुनासिब है कि वे अपने रास्ते जाएँ और मुझे अपने रास्ते जाने दें। वे अपना गिरिस्ती का धरम रखें, पतीबरत का धरम रखें और औलाद बनायें और उन्हें पालें-पोसें और उनके लिए मुनासिब-नामुनासिब सब कुछ करें और दुनिया में काला बाजार चले और कमाई ही सबसे बड़ी सिफ़त हो जाय, वगैरह वगैरह। लेकिन मैं अगर कोई नया ख्याल दे जाता हूं, नई ईजाद कर जाता हूँ, नया तजुर्बा और प्रयोग पेश कर पाता हूं तो इसमें उन्हें क्यों चिढ़ होनी चाहिए और मुझे इसकी पूरी आजादी क्यों न होना चाहिए ? वे मुझे दोष देते हैं, बुरा-भला कहते हैं। रेवती के वक्त मुकदमा चला दिया गया था और खासे रुपये पर आकर बात बीती। लेकिन जिन्दगी इन चीजों पर अड़ और अटक सकती है तो यह जिन्दगी के साथ बेवफाई है। यह चीजें तो थोड़ी-बहुत होंगी। आदमी चलता है तो धूल कुछ उठती ही है। आप न चलिये तो अपनी जगह पर धरम-करम पाले जाइए। अगर चलना है तो कुछ तो ऐसा होगा जो सौ फीसदी धरम-परम नहीं है। मालूम नहीं इस धर्म को इन दिनों क्या समझ लिया गया है। किशन महाराज ने अर्जुन को धर्म सुनाया और वह सुनकर उसने हजारों-लाखों को मारा तो भी परवाह नहीं की। मैंने अपनी तरफ से किसी को ईजा नहीं पहुंचाई है। वक्त-वक्त पर तीन औरतें आईं और मैं अपनी राह चला और उन्हें अपनी राह ढूंढ लेने को कह दिया तो इसमें क्या बुराई है ? और अब यह चौथी तिशना इस क़दर

नई उम्र की और हसीन हैं कि उसको कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए। मेरे साथ उलझ कर वह भी खिचती है, मैं भी खिचड़ता हूं। अर्जुन को उतनी मौतों पर कोई दोष नहीं देने जाता और ये धरम वाले मुझ पर उंगली उठाने लग जाते हैं। तो रखिये आप अपना धर्म। मैं जिन्दगी के साथ वफ़ा निभाना चाहता हूं। चाहता हूं और निभाऊंगा। और किसी चीज़ को आड़े आने नहीं दूंगा।...

× × ×

यहाँ तक आकर उसने कलम नीचे रखी। बाहें दोनों सिर के पीछे ले जाकर अँगड़ाई ली और कुछ देर कुर्सी के पुश्त से पीठ लगाये शंकर बैठा रह गया। वह सामने देख रहा था और उसे अब अपने से कुछ संतोष था। उसे लगता था कि जाला जो आया था कुछ कटा है और उसे काट नहीं रहा है। उसने बाहें नीची करके गाऊन की डोरी को खोला और सीना कुछ हवा के लिए आजाद किया। गहरी सांस ली और फिर स्लीपर में पैर देकर उठ खड़ा हुआ। बाहें गाऊन की परतों को अलग करती हुई पीछे कमर के निचले हिस्से पर जुड़ी सी टिक गई और वह ड्राइंग रूम में फिर घूमने लग गया। चलते चलते उसने जरा झुककर टाइमपीस में वक्त देखा और उसे ताज्जुब हुआ कि चार बजने के करीब हो रहा है। उसे तिशना का ख्याल आया कि वह जाग तो नहीं गई होंगी? वह नहीं चाहता था कि उसे पता लगे कि वह इस बीच बिस्तर से गायब रहा। मानो यह चोरी हो और पहचान होने पर उसका जोर ख़तम हुआ जा रहा हो। उसमें जरा घबराहट हुई और वह तेज कदमों से दरवाजे की तरफ बढ़कर आया ओर चटखनी खोली।

अब वह सोने के कमरे में था जहाँ कुछ हिल डुल नहीं रहा था और ज़ीरो वाल्ट की बत्ती के सिवा सब सोया दीखता था। उसने देखा, तिशना की देह बिभान पड़ी है। वस्त्र जहाँ-तहाँ से हट गया है और उसे पता नहीं है। देह-दर्शन की यह चोरी उसे नई और अच्छी लगी। वह पास आकर टक भर देखता रहा। मानो डेढ़ बरस के बाद यह कुछ अजाना

और अबूझा मिल रहा हो। मानो उधर से कुछ सुलभ न हो और सब आविष्कार की सहायता इसी ओर से हो। कुछ देर यों खड़े रहकर वह मुड़ा और स्विच बोर्ड के पास जाकर भरपूर दूधिया प्रकाश खोल दिया। उसी समय देखा गया कि तिशना की देह ने अंगड़ाई ली और वह देह अधिक उमड़ी और उघड़ी हो आई !

शंकर उस ओर बढ़ा। उसे याद आया कि उसने अभी कुछ लिखा है और लिखने के द्वारा अपने पास संकल्प का संग्रह किया है। उसने मानो याद करना चाहा कि वह क्या था। वह इस देह के अतिरिक्त कुछ और था, इतना तो आभास उसमें रहा। पर सामने की देह की कमनीयता के समक्ष उसमें कुछ भी अस्तित्व अथवा सत्व होगा, यह अनुभव होने में नहीं आया। मानो सत्व या सत्य जो कुछ है, सामने की देह में ही है। वह हल्के पाँव से अचक चलता हुआ पास आया और बेहद धीमे हाथों से आहिस्ता से उसके वक्ष पर से उसने वस्त्र की परत को तनिक अलग हटाया। जो कुछ भीतर से खुल आया वह मानो उसने कभी न देखा था। वह एक क्षण चित्रलिखित सा रह गया। मानो भीतर उसमें एक लहर उठी और वह हिलोर देती हुई उसके पूरेपन में व्याप गई। तभी देखा गया कि तिशना की आँख धीमे-धीमे, मानो मुश्किल से, खिलती हुई कोपल की तरह खुली है और उसने ज़रा सुस्कराकर शंकर को देखा है। या यह शंकर की कल्पना भी हुई हो सकती है। क्योंकि तभी तिशना ने जोर से वस्त्र को अपनी देह पर लपेट लिया और वह मुंह फेरकर ढंकी-ढंकाई लेट गई।

बड़े कोमल कंठ से उस देह पर झुककर शंकर ने कहा, "तिशनी !"

तिशनी ने सुना, पर नहीं सुना !

शंकर ने उतने ही कोमल स्पर्श से उसकी बाँह को छुआ और कहने को हुआ 'तिशनी !' पर तभी तिशनी का दूसरा हाथ नीचे से उठकर आया और उसने झटक कर शंकर के हाथ को दूर फेंक दिया।

शंकर को यह अच्छा लगा। मानो पौरुष के लिए अवसर मिला। कहा, "ओह हो। इस कदर खफ़गी!"

जवाब में तिशनी ने कपड़े को और कसकर अपने को चारों तरफ से समेट लिया।

"तो क्या अब मुझे गुदगुदी देनी होगी? अजी ज़रा तो देखिये।"

पर जिसको नहीं देखना था, उसने नहीं देखा। उसने कुछ भी खातिर में न लिया। और वह अपने में और सिकुड़ आई।

शंकर ने हंसकर गुड़ी-मुड़ी हुई उस स्त्री काया को अन्दाज़ से बगल के पास गुदगुदी देनी चाही।

तभी फन की तरह फुंकारता हुआ उस गठरी में से एक हाथ आया और उसने शंकर की बाँह को ऐसी जोर का झटका दिया कि मानो वह बाँह अपने आधार से उखड़ने में कोशिश से ही बच सकती हो।

"मुझ से अलग रहो। ख़बरदार जो छुआ!'

यह कहती हुई तिशना उठकर बैठ आई और उसके चेहरे पर मानो विष लिखा हुआ था।

शंकर ने कहा, "क्या बात है?"

"बात यह है कि मुझे अगर तुमने छुआ तो मैं शोर मचा कर यहाँ अभी दुनियां को इकट्ठा कर लूंगी। क्या समझ रखा है, तूने? मैं बिकी बांदी नहीं हूं।"

"तोबा, तोबा! यह कौन कहता है?"

"मुंह नहीं कहता, तेरा मन कहता है। मुझमें क्या अकल नहीं है, या आँखें नहीं है?"

"तो हम अलग हो सकते हैं। मुझे नापसन्द करती हो तो मेरी कोई जबरदस्ती तो नहीं है।"

"देख तू अलग होके कैसे होता है? पहले तो सारे में मेरी ख्वारी कराई, अब अलग होता है!"

"अच्छा बाबा, तुम सोओ।"

"और तू जाता है ! कहाँ जाता है ?"

"मैंने आराम में खलल डाला, ,माफ़ी माँगता हूं ।"

"नहीं, पहले फैसला हो जाय, तब जाना ।"

"नींद खुल गई थी । अब सोचता हूं कुछ लिख ही लूँ ।"

"देखो शंकर, छः महीने से देख रही हूँ । यह सब अब नहीं चलेगा । पहले बड़े साफ बनते थे । अब कपट करते हो । हम लोगों के भी आँखें "होती हैं । तुम गुलछर्रे चाहते हो । लेकिन जिन्दगी में काँटे भी होते हैं ।"

शंकर ने औरत की इस मूरत को देखा । अभी तिशना की काया कैसी तृष्णा उपजा रही थी । अब वहाँ से सिवा वितृष्णा के और कुछ भूलकर न आ सकता था । उसने दृढ़ होकर कहा, "क्या फैसला चाहती हो ?"

"फैसला और कुछ नहीं, यही कि इन्सान की तरह से रहो । जानवर बनना छोड़ दो ।"

"क्या ?"

"मैं चौथी हूँ । पूछती हूं कि हद कहाँ आयेगी ?"

"हमारे बीच में विवाह तो नहीं हुआ है ।"

"विवाह को तुमने और मैंने तोड़ा तो है । इसलिये जो हुआ है, विवाह से ज्यादे हुआ है । वह अब टूट नहीं सकता ।"

"जो चीज़ रिश्ता टूटने नहीं देती है, मोहब्बत है । वही हमारे बीच नहीं रह गई है । इसलिये…"

"इसलिये आवारगी की आज़ादी है, क्यों ?"

"तुम्हें इस बदमज़ा जिंदगी से आज़ादी नहीं चाहिये ?"

"आजादी मैं एक बार ले चुकी हूं । जिन्दगी भर के लिए वह काफी है । तुम तीन बार उस आज़ादी को लेकर अघाये नहीं हो ! आज़ादी ही चाहते हो, तो मैं तो तब जानू जब अकेले रह कर दिखा सको । एक रात को अकेले तुम रह नहीं सकते, आज़ादी की बात करते हो !"

"हमारी क्या बातें हुई थीं ? यही ना कि…"

"शंकर, सोचते तुम क्यों नहीं हो कि तुम ब्यालीस पूरे कर चुके हो। अकेले तुम रह नहीं सकते हो। भगवान को लेकर लोग अकेले रह पाते हैं, वह तुम्हारे पास हैं नहीं। औरत से लड़कर ज़रा अकेले होते हो, कि शराब चाहिये। शराब से अकेलापन सपनों में ज़रा खो रहता है, असल में मिटता नहीं है, यह तुम जानते हो। फिर तुम कब तक नई-नई पाते जाओगे ? आखिरकार अपनी आज़ादी में तुम इतने अकेले रह जाओगे कि फिर हाथ तो क्या, पास तक तूम्हारे कोई औरत न आयेगी। उस हालत को नाहक क्यों बुलाते हो ? और मैं अब बस अपने को इतने ही के लिए मानती हूं कि तुम्हें उस हाल से बचाऊं।"

तल्ख तंज से शंकर ने कहा, "मुझे बचाओगी ? मेरा नाम है और पैसा बेबस बहता हुआ मुझ तक आता है। मुझे तुम क्या बचाओगी ? जाओ, तुम अलग हो सकती हो। ये मकान तुम्हारा है, और कुछ माहाना बाँध सकता हूं। लेकिन..."

उसी कड़वेपन से तिशना बोली, "मकान ! माहाना ! इन पर ऐठो मत शंकर। इनसे तुम्हारी जिन्दगी चलने वाली नहीं है। औरत के बिना तुम नहीं जी सकते हो। वे और होते हैं जो जी पाते हैं। और सुनो, तुम्हें अपनी फिक्र है. तो औरत को भी अपनी फिक्र होती है। पढ़ाई-लिखाई के इस जमाने में कोई मुझ-सी मूरख तुम्हें मिलने वाली नहीं है। सब तुम्हें लेंगी और तुमसे लेंगी। लेकिन नई उमर की जो मिलेगी वे अपने को देखेगी और तुम्हें सिर्फ अपने लिए मानेगी। उस वक्त तुम्हारा क्या हाल होगा, यह सोच कर भी मैं घबरा जाती हूं। यह न समझो कि ख्याल तुम्हारे पास ही हो सकता है और फिलसफी तुम्ही बघार सकते हो। हम औरतों को भी उसमें दखल मिलने लगा है। उस सहारे वे भी अपने को प्यार कर सकती हैं और अपने लिए दूसरे को इस्तेमाल भी कर सकती है। मैं भी सोचती थी, कि ये करने लग जाऊंगी और उलझन सुलझ आयेगी। पर जब शोहरत तुम्हारे साथ नहीं रहती, और घमंड नहीं रहता तो कभी तुम्हारा चेहरा ऐसा मासूम हो

आता है कि मेरा दिल पिघल जाता है और तुम पर बड़ा प्यार उमड़ता है। इसलिए सोच बैठी हूं कि तुम्हारा ही खेल तुम्हारे साथ नहीं खेलूंगी। ताकि एक दिन तुम भी समझ जाओ कि जिन्दगी खेल नहीं है, वह फर्ज भी है!"

शंकर ने तैश में कहा, "तिशना।"

तिशना का मन अब भर आया था। इस अपने को जहान का अकलमन्द समझने वाले को उपदेश देने की ऊंचाई पर खुद को पहुंचा कर वह चोटों से पार हो गई थी। उसने कहा, "जाओ. अब अपने लिखो। छः बज रहा है। मैं चाय तैयार करती हूँ।"

"मुझे नहीं चाहिये चाय!"

तिशना उठी और अपने स्लीपिंग सूट संभालती और मुस्कराती हुई वहाँ से चली गई।

शंकर वहाँ अकेला रह गया। अकेला और ठहरा और ठिठका। इस तरह कुछ देर बैठे रहकर उसने जोर से कदम को पटका और वह तेजी से उठा। फिर एक साथ चलता हुआ लिखने की मेज़ पर आया और धप्प से कुर्सी पर बैठ गया—कि लो, अभी कागज़ पर वह सबकी खबर लिये लेता है!

●

नवम्बर' १९६३

बीमारी

मन नहीं लग रहा है। ध्यान एकाग्र नहीं हो पाता है। बात यह है कि लड़की आयी हुई है। ब्याह हुआ, तभी से बीमार चल रही है। इधर दो महीने से लगातार जाँच-पर-जांच हो रही हैं। तीसरी बार 'चेष्ट' का एक्सरे' हुआ है और अभी मैंने प्लेट्स देखे हैं। रिपोर्ट में कोई खास बात नहीं है। ब्लड में भी कुछ नहीं निकला। स्पुटम और स्टूल्स में भी कोई कोई विशेष विकार नहीं मिला। अनुमान था कि एपेंडिक्स के कारण दर्द हो आता होगा; क्योंकि जब-जब फिट आया, पहले पेट में दर्द हुआ। शुरू में समझ लिया गया था कि कुछ स्नायविक और मानसिक कारण तह में होंगे। लेकिन फिर जो दर्द का ध्यान हुआ, तो डाक्टर ने सुझाया कि ऐपेंडिक्स हो सकता है। उसकी तशखीश हुई। इस तरह कुछ न कुछ चलता ही रहा है। परसों कुँवर साहब भी आ गये। उन्होंने कहा—"जब से आयी है, क्या बात है कि दुर्बल ही होती जा रही है?"

मैंने उनकी तरफ देखा और रह गया। क्या बताता कि मेरा क्या ख्याल है। कहा—"डाक्टर शर्मा से आज शाम अपाइंटमेंट है। देखिए, क्या कहते हैं।"

"इससे पहले उन्हें नहीं दिखाया गया था?"

"डा० वर्मा का इलाज चल रहा था। कुछ आराम भी मालूम हुआ था।"

सारांश यह कि कुंवर साहब खुद मामले की तरफ ध्यान देने वाले हैं। तेज़ आदमी हैं और पैसे का सुभीता है उन्हें। गर्व तो नही कहना चाहिए, पर उनके स्वभाव में पैसे के कारण सदा एक उत्साह बना रहता है। उस उत्साह में चपलता के भी तत्त्व रहते हैं। असल में चपलता क्या, सचलता कहना चाहिए। पैसे से गति आती है। आदमी यहाँ-वहाँ जाता है और स्थिर होने की आवश्यकता उसे नहीं रहती।

कुँवर साहब है, इसलिए मैं निश्चिंत हूं। वह जिस काम को हाथ में लेते हैं, पार तक पहुंचाये बिना चैन नहीं लेते। कन्दर्प मेरी कन्या है, पर उनकी पत्नी है। उनको देखकर यह बात इतनी स्पष्ट परिलक्षित होती है कि मैं यह अनुभय किये बिना नहीं रहता कि विवाह के बाद कोई कन्या 'पुत्री' नहीं रहती, एकदम 'पत्नी' हो जाती है। अर्थात् उसका स्वत्व हस्तांतरित हो जाता है।

"कब का अपाइंटमेंट है ? साढ़े छ: ?"

"जी। लेकिन पूछ देखिये, अगर कुछ जल्दी हो सके।"

"जी हाँ।" कहकर उन्होंने फोन मिलाया और थोड़े-से तर्क-व्यय के बाद अपाइंटमेंट का समय आधा घण्टा इधर सरक आया। कुँवर साहब ने मुझे देखा। मैं मन-ही-मन उनकी क्षमता और निपुणता का कायल हुआ। सब बातों में देखता हूँ कि वह अपना मार्ग निकाल ही लेते हैं। देखकर कभी-कभी विस्मय होता है। इस प्रकार का आत्मविश्वास भारतीय युवकों में हो, तो क्या नहीं हो सकता ? कभी-कभी सोचता हूँ कि यह आत्मविश्वास और यह कर्मतत्परता उनमें मज्जागत है। कुँवर न होते और पैसे का सहारा-सुभीता न होता, तो भी यह परायणता उनमें अक्षुण्ण बनी रहती।

मेरा यह सोचना पत्नी को स्वीकार नहीं है। वह कभी-कभी एकान्त में कहती है—"कुँवर रईस होंगे तो अपने घर के। देखो न, बिटिया की क्या हालत कर दी है ?"

"हालत उन्होंने की है, या बिटिया ने खुद अपनी कर ली है ?" मैं कहता।

इस विषय में मेरा अपना मन कुछ निर्णय नहीं दे पाता है। मैं तो सिर थाम कर बैठ लाता हूँ, जब पत्नी फैसले पर फैसला सुनाने लग जाती है। उसका कहना है कि यह आदमी अपने कुँवरपने को भूलता नहीं है, इसमें कन्दर्प बेचारी भीतर-ही-भीतर बुझी जा रही है।

होगा। लेकिन अगर कोई कुंवर है और रईस है, तो क्या इसलिए कि वह इस विशेषता को भूला रहे ? यह तो साफ है कि कंगाल भारत में अमीर होना एक बड़ी विशेषता है। उसको भूला कैसे जा सकता है ? मैं पत्नी से यही कहता हूँ, कि यदि कुँवर होने को वह नहीं भूल पाते हैं, तो अपने कंदर्प होने को बिटिया ही क्यों भूल जाती है।

"वह विचारी भोली है।"

"तो सहे।"

"क्यों सहे ? सहती है, तभी तो सूखती जा रही है मुझे तो लगता है। जैसे पेट में दहशत बैठी रहती हो। मैं तो इस बार उसे जल्दी नहीं भेजूँगी।"

"क्यों नहीं भेजोगी ?"

"देखते नहीं, कैसी हालत हो रही है ?"

"हम-तुम उसे कैसे रोक लेंगे ? जो होनी होगी, होगी। ब्याह के बाद हमारा हक कहाँ रहता है ?"

"बेटी हमारी है, और हक क्या बिक गया है ?"

"नहीं बिक गया है ?"

"क्या कहते हो ?"

"तुमको सुनना अच्छा नहीं लगेगा। लेकिन मैंने तुमसे कहा था, कि अपने से ऊँचे जाकर ब्याह करना टीक नहीं होता है।"

"हमारी बेटी कंदर्प किसी से नीची है ? लाखों में एक नहीं है क्या ? और माँग कर उन्होंने ही तो उसे लिया है !"

"रूप और सुन्दरता तो ठीक है। लेकिन सामाजिकता उस पर नहीं चलती, पैसे पर चलती है। और मैंने तुम्हें पहले भी चेताया था।"

"तो क्या हुआ ? बेटी को मर जाने दोगे ?"

इस तरह की बातें हमारे बीच जब-तब होती रहती हैं और अब मैं खाली हूँ, मेरा मन खाली है। कंदर्प को दो-ढाई महीने से बुखार रहता है। सवेरे भी ९९ अंश से नीचे नहीं रहता। पीली पड़ गई है। कहती कुछ नहीं। न शिकायत करती है। दर्द होता है, तो चादर लेकर चुपचाप बिस्तर पर पड़ जाती है। कोशिश करती है कि काम में हाथ बँटाए और खुश दीखे। पर तन जब एकदम काम नहीं देता, तभी सुस्ताने लग जाती है। नहीं तो इस-उस छोटे-मोटे काम में ही दिखती है। मानना होगा कि असामान्य रूप उसने पाया है। हम दोनों में कोई उसके रूप के योग्य न थे। पर मुझे उसके छोटेपन से ही डर रहता था। क्योंकि यह लड़की अपने रूप को सँवारती न थी और गम्भीर रहती थी। जिस वय में चपलता धर्म होता है, उसमें भी यह लड़की धीर-गम्भीर दीखती थी। सब जगह इसके प्रति अभ्यर्थना का भाव होता था, लेकिन जैसे उसकी उदासीनता कभी भंग ही न हो पाती थी। मानो उसे कहीं आसक्ति न हो और वह घिरी हो। उसकी इस अनासक्त उदासीनता का बाहर अद्भुत प्रभाव पड़ता था। घर में भी लोग उससे कभी ऊँचा नहीं बोलते थे। वह कम बोलती और धीमा बोलती थी। कम हँसती, और मानो नपी-तुली हँसती थी।

कुंवर साहब उसे लेकर डाक्टर के यहाँ गये हैं। तशखीश पूरी कराकर के ही छोड़ेंगे। खर्च कितना भी हो और समय कितना भी लगे। और सब काम पीछे है, पहले यह है; और कुँवर साहब कटिबद्ध होकर आये हैं। मैं खाली हूं और बेहद खाली हूँ। लिखने-लिखाने को जी नहीं चाहता। पर्दा हटा हुआ है और बरामदे के आगे लान है और उसके आगे पड़ोसी की कोठी है। वहाँ से दुनिया शुरू हो जाती है। अनन्त है यह दुनिया। हजारों मकान हैं और करोड़ों आदमी हैं। और लोग जी रहे हैं और मर

रहे हैं। और जाने कबसे यह खेल चला आ रहा है। मन कुछ भी पकड़ नहीं पाता और बेहद खाली हो गया है। यह अवसाद और उदासी के क्षण मेरी समझ में नहीं आते हैं। मैं इन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं करता हूँ। लेकिन वे आकर जब लद जाते हैं, तो फिर मानो कोई चारा नहीं रहता है। वे सब डँस लेते हैं। आदमी की आँखें तब देखती हैं और नहीं भी देखती है। दुनिया चलती है, और नहीं भी चलती है। मानो जीता-जीता आदमी भी मर जाता है। या कहो जीवन-मरण से किनारे रह जाता है, ऐसा कि जैसे वह हो नहीं, कभी हुआ न हो।

पत्नी का आना अघटनीय ही हुआ। अवस्था पैंतालीस होगी, पर बाल सन सरीखे हो गये हैं। चेहरे पर निश्चेष्ट प्रश्न लिखा रहता है। इस मेरे स्टडी रूम में वह आया नहीं करती है। मानती है कि यह उसके लिए निषिद्ध क्षेत्र है। किताबें जैसे उसकी सौत हैं। इन्होंने ही उसके पति को निकम्मा कर दिया है। नहीं तो क्या वकालत चमक न सकती थी। पर नहीं, सो नहीं। अच्छी-से-अच्छी नौकरी भी सामने आयीं। इन मरी किताबों ने किसी को मौका नहीं मिलने दिया। फिर भी वह बहुत यत्न और ध्यान के साथ इस स्टडी रूम को स्वच्छ और व्यवस्थित रखती है, जैसे उसका अपना पूजा-गृह भी इस मन्दिर के बाद हो। मैं अपनी पत्नी को देखता हूँ और दम मारकर चुप हो जाता हूं। सचमुच जो कुछ इसने मेरे साथ उठाया और भोगा है, उसका प्रतिदान नहीं हो सकता है। सनक मेरी रही है, कीमत उसको देनी पड़ी है। तिल-तिल कर इस नारी ने वह मूल्य चुकाया है, और अब आकर मन फीका हो गया है। विशेषकर इस समय का कष्ट उस पर बहुत ही भारी बीतता है। कष्ट यह कि उसकी दोनों लड़कियाँ बहुत ऊँचे घरानों में गयी हैं। वे जब आती हैं या कुँवर लोग आते हैं, तो उसे मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। वह उनके लिए जाने क्या-क्या करना चाहती है, लेकिन कुछ भी नहीं कर पाती है। ठहरने का भी तो ढंग-ठिकाना नहीं है। वैसे उसको अपने पति पर गर्व है। लेकिन उससे अधिक गर्व अपने कुँवर

लोगों पर है। ऊँचे खानदान के और भरे-पूरे लोग उसे अनायास मिल गये हैं। इस बात पर वह अपने को किसी से कम भाग्यशालिनी नहीं मानती। लेकिन वही भाग्य उस समय दुर्भाग्य बन जाता है, जब कोई बेटी या जामाता घर आ जाते हैं। तब उसका मन भीतर-ही-भीतर बैठने को होता है।

वह बोली—"मैंने कहा था। तुमने बात की ?"

"क्या बात करूँ ?"

"नहीं तो कौन करेगा ? मुझसे पूछते हो, क्या बात करूँ ?"

"तुम क्यों नहीं करतीं ? तुम्हारे मन में तो सब बात साफ है !"

"हाँ, है सब साफ। और एक का इलाज क्यों कराते हो, दूसरे को भी तो डाक्टर को दिखाओ।"

"क्या तुम समझती हो कि—"

"समझने को अब बाकी क्या है ?"

"नहीं, नहीं, वह नहीं हो सकता।"

"राधा जो कहती थी..."

"वह तो सौ जने सौ बात करते हैं।"

"नहीं, कहती थी कि सारा शहर जानता है।"

"छोड़ो। अपने सुरेश और कान्त धोखा नहीं दे सकते।"

"हो सकता है, उन्हें मालूम न हो।"

"शहर भर को मालूम हो, और उन्हें न हो।"

छोड़ो, छोड़ो। यह तो ऐसी ही बातें उड़ा करती हैं।"

"नहीं तो फिट क्यों आते ? तुम्हीं कहते थे कि—"

"हाँ वह है। वह सोचने की बात है। मन में तनाव रहने से भी ऐसा होता है। स्नायविक रोग है। और तुमने तो बातें की हैं कन्दर्प से ?"

"वह कहां बोलती है ? और ससुराल पहुंचने के तीसरे रोज़ ही फिट पड़ा था। यहाँ रहते इतनी उमर में क्या कभी एक बार भी फिट आया था, कोई बात हुई थी ? नहीं, कभी नहीं। फिर तुम कहते हो—"

"क्या कहता हूं ? कन्दर्प अपने कुँवर के आते ही कैसा चेतन हो आती है। रंग एकदम बदल जाता है। नहीं, नहीं, वह सब कुछ नहीं। वैसा कुछ होता तो हटती न दिखाई देती। फिर दिखा-भला रहे ही हैं। आखिर डाक्टरी विद्या सब बेकार तो है नहीं। पता लगेगा ही। तब वैसा किया जाएगा।"

"क्या पता लगेगा ? आधी भी तो नहीं रह गई है कंदर्प। पता लगेगा तब, जब जनम बीत जाएगा। मैं कहती हूं, तुम बात करो। वह खुल जाएगी। जरूर कहीं कुछ है। देखते नहीं, मन उसका कैसा अन्दर-अन्दर सिमटा हुआ है। जैसे सब बुझ गया हो।"

"उसका स्वभाव शुरू से ऐसा है।"

"खाक ऐसा है ! तुमसे तो बात करने से कुछ हासिल नहीं। दुनिया की अलाय-बलाय सब सोचोगे। एक बेटी की बात नहीं सोचोगे। ऐसा हृदयहीन तो मैंने कोई देखा नहीं। इस लिखने मरे को आग लगा दो। किताबों का क्या करोगे, जब एक दिन बेटी नहीं रहेगी ? मैं कहती हूँ, मेरा कुछ नहीं। काम-धाम में मैं तो निभ जाऊँगी। तुम्हारी ही वह लाडली है। और तुहारा जीना उसके बिना दूभर हो जाएगा।"

बात सच है। यह लड़की ब्याह से पहले मेरी इतनी चिन्ता करती रही है कि क्या कहूं। अपने को भूलकर इसने कोई दस-बारह बरस की उम्र से ही दूसरों का ध्यान रखना सीख लिया है। सब हमारे यहाँ लापरवाह रहे हैं और सबकी चीज़-बस्त का बोझ यही उठाती रही है छुटपन से। अपनी माँ के लिए बड़ा सहारा बनकर रही है। इसके विवाह के बाद से अपने नित्य नैमित्तिक जीवन में मैंने बड़ी असुविधा अनुभव की है। और मैं उसके स्थायी अभाव की कल्पना भी नहीं कर सकता हूं। लेकिन पत्नी से मैंने कहा—"उसे जाना होगा तो वह जाएगी। भगवान् के काम में हम क्या कर सकते हैं ?"

"बस, तुमसे हो लिया कुछ ! मैं ही बावरी हूँ जो कहने आती हूं।" यह कहती हुई वह झपाटे से चली गई।

मैं लिखने की मेज़ पर बैठा हुआ साहित्य की बात सोचने लग गया हूँ। उसका क्या दायित्व है, क्या गतिविधि है। उपन्यास किस ओर जा रहा है, और नयी कहानी का स्वरूप क्या है? प्रगति क्या है, और प्रयोग क्या है? इत्यादि···इत्यादि···इत्यादि! सोचने को बहुत-कुछ पड़ा है। यह सारा आसमान इसीलिए तो है कि सोच-विचार से उसे बुने जाओ और भरे जाओ। वह हमेशा खाली है कि हर कोई हर-हमेश अपने ताने-बाने से उसको भरता और अपने को भरमाता रह सकता है। नहीं, मैं कुछ नहीं सोच रहा हूं। सोचने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। मुझे इस आसमान के खालीपन से डर लगता है, तो अपने खालीपन से मैं उसका सामना कर लेता हूं। कंदर्प आधी रह गई है। वह छीजकर तिहाई और चौथाई भी रह सकती है। लेकिन मैं क्या कर सकता हूँ? कुँवर के साथ वह डाक्टर के गई है। इससे ज्यादा मैं क्या कर सकता हूँ? डाक्टर से ज्यादा क्या हो सकता है? कोई क्या कर सकता है? वही हो रहा है और मैं खाली हूं।

लगता है, मैं तैयार होता जा रहा हूं। जाने कब टपकने का समय आ जाए! और मालूम होता है कि आदमी जीकर यही कर सकता है कि एक दिन मर जाए। इससे ज्यादा उसका बस नहीं है। यह नारी, जो पत्नी बनकर तीस वर्ष मेरे साथ गुज़ार चुकी है, अब तक भी ये क्यों नहीं समझी कि पति थोड़ा नहीं, बहुत नहीं, सर्वथा निकम्मा है। उसने चाबुक दे-देकर काफी चलाया है, लेकिन भला कितना वह प्राणी चल पाया है? इस सबके बाद भी क्यों वह सोचे जाती है कि कुछ हो सकता है? और मैं क्या कर सकता हूं? कंदर्प अपने हाथ में है, शायद उससे ज्यादे कुँवर के हाथ में है। और उससे भी ज्यादा सब परमेश्वर के हाथ में है। तब भला करने को उसमें क्या रह जाता है?

आ गये कुँवर साहब। कंदर्प भी साथ आयी। निश्चय के भाव से भरपूर और प्रसन्न थे दोनों।

मैंने कहा—"आओ, हो गया?"

"हाँ, आध घंटे तक मैंने बात की। डाक्टर लोग हरामी होते हैं। फीस तो लेंगे। मरीज़ की तसल्ली नहीं करेंगे। मेरे साथ यह सब नहीं चल सकता। पैसा चाहिये तो और लीजए। लेकिन यह क्या, कि सीधे दवा बता दी और छुट्टी पायी।"

"क्या निकला ?"

"आटोवैक्सीन के लिए अभी तो स्पुटम जाएगा। पन्द्रह इंजेक्शन के कोर्स के बाद फिर एक बार पूरा इन्वेस्टिगेशन होगा। तब शायद मर्ज पकड़ में आयेगा।"

"तो—?"

"आप चिन्ता न कीजिये। अभी तो इसे मेरे साथ जाना होगा। वहाँ भी एक्सपर्ट लोग हैं। आप फिक्र न करें।"

"थोड़ा और न देख लेते। डा० वर्मा से कुछ फायदा नज़र आया था।"

"जी हटाइये, वर्मा को छोड़िये। सिर्फ एम० डी० है। माडर्न रिसर्च आगे बढ़ गया है। लेकिन आप फिक्र क्यों करते हैं ? शी उड बिकम आल राइट !"

"साथ ले जाओगे ?"

"हाँ, मा भी कहती थीं।"

"कंदर्प से बात हो चुकी होगी।"

"उसमें बात का क्या सवाल है ? आपकी इजाजत है ही।"

"जैसा उचित समझो।"

तभी सूचना आयी कि मेरी तलबी है। अन्दर गया, तो पत्नी ने पूछा—

"कंदर्प जा रही है ? ऐसी ही हालत में जा रही है ?"

"वहाँ भी तो डाक्टर हैं।"

"लेकिन उसका मन जो नहीं है।"

"मन को करना होगा। और क्या इलाज है ?"

"ऐसे वह ज्यादा न जिएगी, मैं कहे देती हूं।"

"घर रख लोगी ? कब तक रखोगी ? अब हो गया, सो हो गया। पहले से विचारा नहीं ? अब विचारने से क्या होगा ?"

"तुम तो मुझी को दोष देते हो। कुँवर में क्या दोष है, अपने ही माल में खोट हो तो कोई क्या करे ?"

"ठीक है। कुँवर चाहते हैं, तो जाने दो। अपना क्या ?"

"नहीं। मैं तो नहीं जाने दूंगी। तुम इशारे से समझा दो।"

"मुझ पर न छोड़ो। तुम परदा तो करती नहीं हो। खुलकर क्यों नहीं कह देतीं ?"

"तुम भी किसी काम के हो या नहीं—या सब मैं ही करूँ ?"

उसके बाद तर्क बढ़ा और क्रोध बढ़ा। और मैं चला आया।

कुँवर साहब कार से आये थे। शाम को मालूम हुआ कि चले जा रहे हैं। फिर कब आयेंगे, इसका ठिकाना न था। ऊपर से कोई बात न जान पड़ी। लेकिन मनोभावों में जो तनाव था, वह प्रकट हुए बिना न रहा। तैयारियाँ हो चुकी थीं, सामान लद गया था और कुँवर मेरे पास आये।

मैंने कहा—"अभी जा रहे हो क्या ?"

"जी। प्रणाम करने आया हूं।"

"कंदर्प को लेने फिर कब आ रहे हो ?"

"देखिए, काम बहुत रहता है।"

"अभी शायद तबीयत के सबब तुम्हारी सास ने पाँच-सात रोज के लिए कहा होगा। ठीक तो है, हफ्ते-डेढ़-हफ्ते में आ जाना।"

कुँवर ने कहा—"अच्छा।" लेकिन उस शब्द में आधार न था। इनकार न था, इतना अवश्य है। पर स्वीकार भी न था। अनमनापन प्रकट था। एक कठोर दृढ़ता का भी भाव था उसमें। जैसे यह प्रश्न मान-सम्मान का हो। केवल समय का न हो, सिद्धान्त का हो।

मैंने कहा—"फोन पर मैं तुम्हें कह दूँगा और तुम्हें फौरन आ जाना होगा।"

कुँवरने कहा—"जी"

शब्द का स्वर सुन कर मेरा जी बैठने को हुआ। मानो शिष्टाचार को ध्यान में रखा जा रहा है, नहीं तो जाने किस क्षण प्रत्यंचा टूट पड़े।

तभी एक काण्ड घटित हो गया। नौकर वदहवास आया और बोला—"माँ जी बुलाती हैं !"

उसके चेहरे पर कुछ ऐसा था कि मैंने पूछा—"क्या है ?"

"फौरन बुलाया है। कुँवरानी साहबा..."

मैंने कुँवर को साथ लिया और अन्दर गया। कंदर्प का सारा शरीर तना हुआ था और दो जन मुश्किल से थाम पाते थे। रह-रह कर शरीर में लहरें आतीं, मुट्ठियाँ बँध जातीं, तन ऐंठ उठता और तीन-चार मिनट इस अदम्यता में रहकर फिर निढाल पड़ जाता था। बीच में आँखें खुलतीं, तो वह देखती न थीं, उनमें दृष्टि न होती, और वह हौलनाक मालूम होतीं। मुँह में दन्ती बँध जाती और कभी-कभी वे दाँत ही खुद मुँह को काटने को होते। कभी मुट्ठी की उँगलियाँ खुलती और जो हाथ पड़ता, उसी को चीथ डालने की कोशिश करती। कपड़ा हो तो कपड़ा, शरीर हो तो शरीर। बहुत ही विचित्र अवस्था थी। कुँवर चित्रलिखित रह गये। फिर कुर्सी उनके पास की, तो उसपर बैंठ गये। मैंने पलंग की पटिया पर बैठ कर कन्दर्प की बाह सँभाली। पुकार कर कहा—"कन्दर्प ! कन्दर्प !" लेकिन वह होश में न थी।

नहीं कह सकता, क्या होता है। शरीर उसका कृश हो गया था। खाना भीतर शायद ही पहुँच पाता हो। अव्वल तो खाया ही नहीं जाता, खाया जाता तो वमन में निकल जाता। ऐसी हालत कई दिनों से चल रही थी। इलाज कुछ नहीं किया जा सकता था। क्योंकि एक अनुमान था कि शायद गर्भ हो। हम सब लोग चिन्ता में रहते थे। उसी काया में यह बल जाने कहाँ से आ जाता था कि दो तीन जन भी न थाम पाएँ। वह दातों से अपने को काटने को होती, और उँगलियों से अपने को नोचने-

खसोटने को होती। और हम सब मिलकर मुश्किल से उसको रोक पाते।

यह दृश्य आध घन्टे से ऊपर तक चलता रहा। बीच में निढाल होकर कभी वह बुदबुदाती और उसमें उसके ससुराल के नगर का नाम सुन पड़ता। बाकी कुछ समझ में न आता था। एकाध बार कुँवर का घर के प्यार का नाम भी उसके मुँह से फूट कर आया। बीच में पानी माँगा, लेकिन पानी मुँह में पहुँचा नहीं। कारण, क्षण भर को दौरा टूटता और होश आता, और दूसरे ही क्षण होश भाग गया होता और दौरा फिर कब्जा जमा लेता। पानी होठ तक आता और गले में उतर भी न पाता, तभी उसको पहले की तरह लिटाना पड़ जाता।

मेरे लिए यह पहला अवसर था। मैंने पूछा, ऐसा पहले भी हुआ है ?

कुँवर स्तब्ध बैठे थे। उन्होंने कहा—"हाँ, हुआ है।"

"ऐसे ही दौरे पड़े हैं ?"

"हाँ। लेकिन कलेजे में दर्द पहली बार हुआ है।"

"अब भई' कल जाओ तो कसा रहे ? तुम देखते ही हो।"

"जी, जरूरी काम था।"

"देख लो।"

कुँवर उठे और पलंग के पास आये। ठीक उसी क्षण कंदर्प की काया में जाने किस महाबल का वेग आया कि उसने एक झटके में मुझे फेंक दिया। मैं पलंग से गिरते-गिरते बचा। दूसरे धक्के में उसने मा को अलग कर दिया। पीछे बड़ी वहन बैठी थी, कंदर्प का सिर जोर से उसके पेट में लगा, और वह एक बार 'आह' करके रह गयी। कंदर्प झटके से उठ बैठी। और उसने जोर से अपने बालों को पकड़ा, फिर उन्हें उखाड़ने लगी। वहाँ से खींच कर उसके हाथ हटाये गये, तो जबर्दस्ती छुड़ाकर उसने दोनों तरफ से ब्लाउज को पकड़ा और एकदम उधेड़ डालने की चेष्टा की।

कुँवर मानों ऊपर खड़े यह देखते रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"जरा आप लोग बाहर जा सकते हैं? और दरवाजा बन्द कर दीजिए।" कुँवर का यह आचरण मेरी समझ में न आया। कुछ उसमें ऐसा था, कि हम तीनों बाहर चले आये और दरवाजा बन्द कर लिया। फिर हमें नहीं मालूम क्या हुआ। बाहर कोई आहट नहीं आयी। लेकिन बीस मिनट बाद मालूम हुआ कि कुँवर अब अपने घर नहीं जा रहे हैं, बल्कि सिर्फ ड्राइव के लिए जा रहे हैं। कंदर्प भी साथ जा रही है। उसको होश आ गया था। ओवलटीन डालकर एक कप दूध उसे पिलाया गया। चैतन्य हो, वह ड्राइव पर जाने को तैयार होने लगी।

तभी डाक्टर आये। बड़ी व्यस्तता में से आ सके थे वह डाक्टर और सो भी मित्रता के नाते। फोन दो और डाक्टरों को भी किये गये थे, लेकिन वे उपस्थित नहीं हुए थे। कंदर्प तैयार होकर डाक्टर के सामने आयी, तो वे दंग रह गये। उन्हें बेहद सख्त दर्द बताया गया था। कलेजे में जलन थी और अनुमान था कि कहीं कोई गहरी व्याधि होनी चाहिये। लेकिन कंदर्प को देखकर डाक्टर प्रसन्न हुए। फिर भी उन्होंने स्टेथस्कोप से जाँच-परख की, ब्लड प्रेशर लिया, नब्ज वगैरह देखी-परखी। और कहा—एकदम कोई बात नहीं है। आप लोग घबरा कर मरीज़ को भी घबरा देते हैं। कंदर्प को डाक्टर छोटेपन से जानते थे, सो उन्होंने कहा—"तू इतने दिन से यहाँ आयी है, और घर अपनी मौसी को देखने नहीं आयी? चल, अब चलती है?"

इस तरह हल्की-फुल्की बातों से उन्होंने वातावरण को निश्चिन्त किया और चले गये।

उसके बाद कुँवर और कंदर्प भी कार में घूमने चले गये।

वे घूमने गये हैं, मैं अपनी जगह आ बैठा हूं। अकेला हूं। सोचता हूँ कि क्या झमेला है? कोई तर्क या तुक भी है? किताबें बहुत हैं, उनमें ज्ञान है, और विज्ञान हैं। रोगों का वर्णन है और निदान है। पर क्या दो के बीच युद्ध ही है? प्यार भी युद्ध ही है?

कुँवर और कंदर्प आ गये है । मगन हैं, शिकायत किसी के चेहरे पर नहीं है । यह इस क्षण है । मगर क्षण दूसरा हुआ तब ?

"बाबू जी" कुँवर ने कहा—"आप किस सोच में हैं ?"

सहसा उबर कर मैंने कहा—"नहीं तो—"

"कंदर्प, कहो न ?"

और कंदर्प लजा कर रह गयी ।

मैं समझा और जोर से चिल्लाया—"अजी सुनना !"

सुनकर कंदर्प भाग गयी !

मार्च' १९६२

विचार-शक्ति

राकेश का चित्त इधर कुछ संशय में पड़ गया है। वह सपने से में देखता है, आस-पास देखता है, कभी बाहर होकर जो चित्र-विचित्र दुनिया फैली है, उसमें भी देखता है। और मन उसका अशान्त हो जाता है।

आचार्य नित्य की भाँति सन्ध्या का प्रवचन कर रहे थे। सब साथी ध्यान से सुन रहे थे। ध्यान से वह भी सुनने की चेष्टा कर रहा था। पर ध्यान सधता नहीं था। श्रद्धा से उन शब्दों को भीतर लेने की जगह उसमें तर्क उठता था, और वह तर्क शंका का रूप ले लेता था। निवृत्ति उसने अपनाई थी, और अहरह वह पिछले बारह वर्षों से उसी की महिमा में पल रहा था। लेकिन उसे ऐसा लगता था, कि निवृत्ति एक सूनापन है, और पकड़ते हैं, तो शून्य हाथ नहीं आता है। कहीं भी हाथ नहीं लगता है। ऐसा मालूम होता है कि समय जो निकलते चलते बाहर सब तरफ परिवर्तन की सृष्टि करता जाता है, वह इस निवृत्ति की साधना में कीलित होकर खड़ा भर रह जाता है। जो हो, उसके मन को चैन नहीं है।

अवस्था उसकी चौबीस वर्ष की हो आई है। तेरह वर्ष की वय में उसने यह मुनि-दीक्षा ली थी। उसे मुक्ति का मार्ग चाहिये, और यह वही मार्ग है यह समझ कर चौबीस वर्ष की आयु तक इस पर चलता चला आया है। मुक्ति मिली है, ऐसा कुछ मालूम नहीं होता। उस ओर बढ़ना हुआ है, यह भी मालूम नहीं होता। इस अकृतार्थता को क्या वह

आचार्य से कहे ? लेकिन उनका उत्तर वह जानता है, कि श्रद्धा को परिपूर्ण करो। वह तो ठीक है। पर श्रद्धा को जो अन्दर से कुतरे खा रही है, वह चीज़ क्या है ? उसका निवारण कैसे हो ?

कठिन यह तपस्या का मार्ग है। हर प्रकार का काया-कष्ट लेना और झेलना होता है। इन कष्टों ने उसे कभी नहीं सताया। बल्कि इनसे तो उसमें उत्साह ही पैदा हुआ है। शरीर को आराम देने की आवश्यकता है, ऐसा कभी उसे एक क्षण के लिए भी अनुभव नहीं हुआ। काया और भी वशीभूत, और भी कसी रहे, किसी तरह मन के ऊपर सवार न होने पाये, यह भावना उसमें अब भी है। सच पूछिए तो यह काया-क्लेश ही है, जो अब तक उसको इस मार्ग में रोके हुए है। वही एक वस्तु है, जिसमें उसे कर्त्तृत्व का और प्रवृत्ति-पराक्रम का और अपनी किंचित सार्थकता का अनुभव होता है। वह पैदल नंगे-पांव आचार्य श्री के समूह के साथ सड़क पर चलता होता है। लोगों की मोटर-गाड़ियाँ और तरह-तरह की सवारियां बराबर से निकलती चली जाती हैं। उसे मन में होता है, कि वे नहीं जानते हैं, और हम जो कष्ट उठा रहे हैं, उसका रस उन साँसारिकों को प्राप्त नहीं है। नहीं, कष्ट से उसमें तनिक भी मंदता नहीं आई है, बल्कि और भी अधिक कष्ट झेलने को मिले, तो जान पड़ता है कि उसे अच्छा लगेगा, और इसमें उसे कथंचित सार्थकता जान पड़ेगी। किन्तु दूसरी ही चीज है, जिसने उसे सताना शुरू कर दिया है। लोग आते है और उसके पैर छूते हैं, नर-नारियाँ, बाल-वृद्ध उसके पाँव छूकर पास ऐसे बैठते हैं, जैसे वे स्वयं मिथ्या में हों, और उससे सत्य के अमृत की बूंद की आशा करते हों। महिलाएँ होती हैं, और कन्यायें होती हैं, माताएँ होती हैं, और पत्नियां होती हैं। और ये सब उसके पास से जब कृतज्ञ और धन्य भाव लेकर जाते हैं, तो उसे अद्‌भुत मालूम होता है। वह उन शब्दों को याद करता है जो उसके मुंह से संस्कारवश निकलते जाते हैं, और जो धर्म के और सत्य के माने जाते हैं। भक्ति से लोग आते हैं, तृप्ति लेकर

जाते हैं, और वह अपने में ठगा-सा रह जाता है। यही चीज़ है, जिसने उसे कुरेदना शुरू कर दिया है। इस चौबीस वर्ष की अवस्था में क्या जगत् को उसने उत्तीर्ण कर लिया है? संसार में रह कर काम-धाम करने वाले सब जन, जो उसे भिक्षा देते और उसके चरण छूते हैं, क्या भूले हुए और डूबे हुए ही हैं? वह एक वस्त्र रखता है, सोते समय ऊपर-नीचे एक ही वस्त्र ले सकता है; क्षौर नहीं कर सकता, केश का लुंचन ही करना होता है; पैसा छू नहीं सकता, माँग कर ही भरण-पोषण की सब आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है; बाहर की ओर खुलने वाली सब इन्द्रियों को अपने में आत्मस्थ करना पड़ता है। इस सबसे ही क्या वह मनुष्य न होकर देव हो गया है? या सामने वाले संसारी जन मनुष्य से नीचे पशु बन गये हैं?

नहीं, नहीं। वह कुछ भी करे, उसके चित्त का समाधान बुझता जा रहा है। उसमें संसारियों के लिए भी प्रशंसा के भाव पैदा होते हैं। उसे बाहर जगत् में सौन्दर्य भी दीखने लगा है। संसार कहकर बाहर के प्रति घृणा और विराग ही उसमें नहीं होता है, कभी अनुराग भी अनुभव होता है। संसार में रचे-पचे लोगों के लिए कभी-कभी उसमें स्पृहा और सराहना भी जाग जाती है। वह क्या करे, उसकी समझ में नहीं आता है।

उस रोज उसने आचार्य श्री को देखा था। वह भी साथ था, और एक प्रसिद्ध राजपुरुष के यहाँ आचार्य श्री विराजे थे। राज्य माया है, और संसार बन्धन है, यह उस प्रासाद के ऐश्वर्य की व्यवस्था, संगमरमर के फर्श और हरे-भरे उद्यान को सामने देखकर उसे याद नहीं रह गया था। आचार्य श्री को याद रहा हो, तो वे जानें। किन्तु उन राजपुरुष की मुद्रा पर जो भव्यता और प्रसन्नता थी, प्रतिभा का जो तेज उनके मुख पर था, उनके समस्त हाव-भाव और व्यवहार में जो मुक्त विश्वस्तता थी, जो परिहास एवं मुक्तानन्द था, वह याद आता है, तो विश्वास करना कठिन हो जाता है, कि संसारी और उसका संसार मिथ्या

है और घटकर है, और मुनि और उनकी मुक्ति कोई बड़ी या सत्यतर वस्तु है। उस समय की आचार्य श्री की मुद्रा भी उसे याद आती है। क्या उस मुख की श्री, उसका आत्म-संभ्रम उन राजपुरुष के समक्ष बढ़ा-चढ़ा दीखता था ? क्या सचमुच वह किंचित फीका ही नहीं प्रतीत होता था ? क्यों ऐसा था कि आचार्य श्री चलकर उन महलों की ड्यौढ़ी पर पहुंचे थे ? तब यद्यपि राजपुरुष उनके आसन के समक्ष फर्श पर ही बैठे थे, लेकिन उसमें भी क्या उनकी अनायासता से नहीं प्रगट था यह कि सब उनका स्वत्व है, और हर आसन उनकी कृपा है ?

इस बात को छः महीने हो गए। तब से वह बात उसके मन में दुबकी और दुःखती ही रही है। उसने किसी से कहा-सुना नहीं है। उन राजपुरुष की उपस्थिति फिर आचार्य श्री के निकट अत्यंत प्रयत्नपूर्वक कई बार चाही गई है, पर प्राप्त नहीं हो सकी है। सबको ऐसा अनुभव हुआ है कि वे किसी धन्यता से वंचित रह गये हैं। इन सब मनोभावों के बीच रहता हुआ वह शंका में गहरा उतरता गया है, और अनुभव होता है कि जैसे उसके पांव डिग गये हैं।

अब तक ठीक था। संसार को और संसारियों को उसे प्रकाश देना था। मुक्ति के मार्ग का उसे उन्हें दान करना था, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का अमृत प्रदान करना था। उसी के लिए सम्पूर्ण और सम्यक् चारित्र की साधना चल रही थी। मानव-जाति के और विश्व के उद्धार का प्रश्न था, विश्व-क्राँति का दायित्व था। जगत को एक मोड़ देना था, और वह मोड़ मोक्ष की दिक्षा का होने वाला था। उसके शरीर पर उतरने वाला यौवन और उसके मन में स्फूर्ति ले आने वाला उत्साह—सबके लिए यह यथेष्ट उपक्रम था। और जान पड़ता था कि इस प्रकार जीवन की महत्तम सार्थकता उसे प्राप्त होने वाली है। आचार्य श्री के अनुगमनमें वे एक तीर्थ की रचना कर जायेंगे जिससे भवसागर से उत्तीर्णता चाहने वालों को सहायता मिलेगी। और सिद्ध-सुगम उपाय प्राप्त होगा। आचार्य अनुपम अद्वितीय पुरुष हैं, और समस्त मानव-परिवार को उनके चरण और शरण में लाना ही सबसे अभीष्ट अभिक्रम है।

किन्तु अब आकर उसमें संशय ने घर कर लिया है। उस राजपुरुष के स्थान से और उस दिन की यथार्थता से उसमें होने लगा है कि अद्वितीय की जगह कहीं आचार्य श्री द्वितीय तो नहीं हैं। तब क्या राज-वैभव और राजपुरुष प्रथम हैं? प्रथम नहीं हैं, यह बात अब उसके मन में टिक नहीं पाती है। लोकसत्ता और राजसत्ता उस तरह अब उसके लिए गौण और व्यर्थ नहीं है, न धर्म-नीति अपने में कोई प्रथम और समर्थ है।

तब ?

बस, यहीं वह गहरे विवर्त में पड़ जाता है। यहाँ उसकी एक अलग दुनिया है। वह सर्वथा दूसरी दुनिया है, जिसे संसार कहते हैं। धर्म की जगह वह कर्म की है। वह एकदम अनजानी और अनपहचानी है। यहाँ से वह निकला, तो वहां जायेगा कहां? इधर दो दिन से यही एक बात उसमें चक्कर काट रही है। आज तो वह विशिष्ट है और पूज्य है। सब उसको अनायास मिल जाता है। और ऊपर से लोगों की पूजा-क्ति भी मिलती है। चिन्ता नहीं करनी पड़ती है, उपदेश से ही चल जाता है। बाहर के संसार में, कहते हैं, कि चिन्ता करनी पड़ती है। वह करना पड़ता है, जिसे काम कहते हैं। आजीविका कमानी पड़ती है। यह सब क्या होता है, उसे पता नहीं। पता इतना ही अब तक रहा है कि कर्म में बन्धन होता है, और पाप होता है, और कोई काम अपने में करने लायक नही होता। अब दुनिया में, जहां काम-ही-काम है, वह कैसे पहुंचेगा, कैसे टिकेगा? यही बात इन दो दिनों से उसके मन में छाई हुई है। वह जैसे उसे बराबर डरा रही है। चारों ओर श्रद्धालु जन है। वह जानता है कि अन्दर से श्रद्धेय वह नहीं रह गया है, लेकिन बाहर से भी श्रद्धाभाजन के रूप और आसन से वह डिगेगा और हटेगा, तो भी शून्य में वह फिर कहाँ, किस भाँति टिक पायेगा, उसकी समझ में नहीं आता है। विवशता यह है कि तीन-तीन, चार-चार साधु एक साथ विचरण करते हैं। अच्छी व्यवस्था है। कारण संग-साथ से खिसकते के लिए सहारे और पहरे का उपाय हो जाता है। इधर एक सज्जन उनकी टोली के प्रति

उन्मुख दीखते है। नये विचारों के साहित्य से रुचि रखते हैं। फिर भी धार्मिक हैं। उनसे कहा जाय ?

आचार्य श्री के विरुद्ध एक पक्ष भी सक्रिय है। इधर-उधर का वह प्रचार करता रहता है। मैं नाम जानता हूं, पहचानता भी हूं। उनको संकेत किया जाय ?

नहीं, नहीं। यह हीनता होगी। मैं अपने लिये स्वतन्त्रता चाहता हूं। विरोध के पक्ष को उकसाना नहीं चाहता। नहीं, नहीं। यह नहीं हो सकता।

तब उसे एक चेहरा याद आता है। जाने वह मुख क्या कहना चाहता है? उन आंखों की दृष्टि पता नहीं कि टोली पर रहती है, या टोली में से स्वयं उस पर रहती है। भिक्षा में वह अनायास उसके यहाँ पहुंचता रहा है, और उस आग्रह-अनुग्रह की याद उसमें बनी रह जाती है, जिससे उस रमणी के हाथ नाना व्यंजन हठात् उसके भिक्षा-पात्र में डाल ही जाते हैं। लेकिन वह पत्नी है, अधीना है। ...छिः छिः ! यह मैं क्या सोच रहा हूँ ? श्रद्धा के वश जो सराहना उसकी आँखों में हो सकती है, वह क्या अन्यथा ठहरेगी ? मैं कैसे कहूं ? कहूंगा, तो क्या यह उसकी निगाह में गिरने और फिसलने की बात न होगी ? तब सहानुभूति उसमें कहाँ रह जायेगी ?

और वह चारों ओर तिनके के सहारे के लिए अवकाश टटोलता है। और उसकी समझ में कुछ नही आता है।

वह क्या चाहता है ? यहाँ से भाग जाना चाहता है ? लेकिन भागना क्यों चाहता है ? सीधे-सादे तौर पर सबके सामने स्वीकृतिपूर्वक वह बस हट क्यों नहीं जाता है ? लेकिन यह कैसे हो सकता है ? समूह की शक्ति उसे अभिभूत कर देगी। उस पर जाने क्या-कितना दबाव आयेगा। और उठती-उठती बात शायद दबी रह जायेगी। नहीं, नहीं, भागना ही होगा। चुप-चाप खिसक जाना होगा। जब शाम का अँधेरा होगा, तभी ठीक रहेगा। लेकिन भाग कर जाना कहाँ होगा ? किसी के घर, तो कहाँ ?

पैदल चलूं, तो आस पास थोड़ी दूर पहुँचूंगा नहीं कि पकड़ा जाऊँगा। रेल जल्दी दूर ले जाती है। लेकिन वहां टिकट लगता है, और उसका पैसा लगता है।' वह दो दिन से इसी चक्कर में घूम रहा है, और चक्कर कट नहीं पाता है। हार कर बार-बार वही चेहरा और उसकी वही आँखें उसे याद आती हैं, जो कुछ कहना चाहती हैं। और वह कुछ निश्चय नहीं कर पाता है। जैसे कुछ उसे खींचता हो।

पर कहाँ एकान्त मिलेगा ? मिले तो कैसे कहना होगा ? क्या कहना होगा ?

वह तय नहीं कर पाता, और विस्मय में हो आता है, जब देखता है कि भीतर से आता हुआ सत् संकल्प और अदम्य नैतिक निश्चय मानों यथार्थ के तल पर आकर निस्सार और निर्वीर्य हो गया है। यह मार्ग मुक्ति का नहीं है। संसार निन्दनीय और बन्धनीय नहीं है। यह बात परिपूर्ण निर्धारण के साथ मन में उठती है। लेकिन कैसे होगा, यह डर ऐन वक्त पर उसको दबोच लेता है। तब उसे जान पड़ता है, कि विचार का मन-भर कर्म के कन-भर से हल्का रह जाता है। ढेर का ढेर विचार तनिक सहायता नहीं कर पाता। कर्म के एक कदम को अपने आप में से वह संभव नहीं बना पाता।

लेकिन अचरज की ही बात हो गई। मार्ग निकला, और हार में से मार्ग निकला। हार कर वह मूर्खता कर बैठा। भिक्षा के लिए गया था वह। चौके का कमरा अन्दर था। सत्कार में बाहर आकर महिला ने वस्तुएं देनी चाहीं। पर वह अन्दर बढ़ता गया। अभ्यर्थनापूर्वक वापस अन्दर आकर उस सुमुखी ने भिक्षा-पात्र में तरह तरह की चीजें डालनी चाहीं। राकेश ने कहा—"नहीं, नहीं, इतना नहीं। यह सब नहीं।"

"जी नहीं, महाराज। कृपा हो, महाराज।"

"अच्छा सुनो," राकेश ने कहा—"दस रुपया दे सकती हो?"

सुमुखी ने चकित भाव से उसे देखा।

"नहीं दे सकती हो?"

वह सन्न देखती रह गयी। लेकिन समय नहीं था। जल्दी-जल्दी उसने कलाई से सोने की चूड़ी निकाली, और सामने की।

राकेश ने कहा—"यह नहीं। नकद रुपया।"

"अपराह्न की भिक्षा यहीं लीजियेगा," कहकर चूड़ी उसने वापस कलाई में डाल ली।

राकेश के चित्त पर से मानो एक शिला यकायक उठ गई। उसने कहा—"लाओ, क्या भिक्षा दे रही थीं?" फिर उसने तनिक भी इनकार नहीं किया। और वह जो देती गई सब अपने भिक्षा-पात्र में स्वीकार करता गया। अपने स्थान पर लौट कर, संगी-साथियों के भिक्षा के वितरण में उसने अपना भाग लिया, उसका भोग भी पाया, सब बातचीत में सम्मिलित हुआ। लेकिन उस घटना को किसी तरह नहीं भूल सका। एक पूजनीय मुनि के अधःपतन के सम्बन्ध में किसी प्रश्न या शंका को स्थान न देकर जिसने बिना परिचय, बिना ज्ञान, अपनी आत्मा पर यह संकट मोल ले लिया, उसके प्रति अनन्त कृतज्ञता के भाव से वह एक क्षण के लिए भी मुक्त नहीं हो सका।

कहना वृथा है कि अपराह्न की भिक्षा से पहले उसके पास दस-दस के दस नोट एक चिट्ठी में रखे हुए पहुँच गये। पत्र में था कि और जो सहायता चाहिये, कहिए। शंका न कीजिये।

'शंका न कीजिये!' किसकी शंका वह न करे? मुनि-मार्ग की शंका तो उसमें बैठ ही गई है। क्या वह सुमुखी चाहती है कि बीच जो बाधा हो इससे मैं सुलझा-निबटा लूँ, और इस मुनि-मार्ग में दृढ़ ही बना रहूं? यदि यह है तो रुपया मेरे काम में नहीं आ सकता है। भक्तिपूर्वक स्थिति-करण के लिए उसने यह दान दिया हो, तो उसका मैं पात्र नहीं हूँ।

चिट्ठी में यही लिखकर राकेश ने उस सुमुखी के हाथ में दे दिया। साफ बता दिया, कि मैं मुनि-मार्ग छोड़ना चाहता हूँ। उससे हटने के लिए ही रुपये की आवश्यकता थी। इसलिए यह वापस है।

लेकिन वह रुपया लौटकर फिर राकेश के पास आ गया। चिट्ठी में था कि किसी ने पूछा नहीं है। कारण आप बताते क्यों हैं? आप समझ लीजिये, कि मैं नहीं जानती।

उफ्, जैसे एक नश्तर लगा। राकेश के भीतर से सब अहंकार कट गया। संसार में रची-पची एक अबोधा नवीना यह कर सकती है, तो अवश्य यह संसार पापस्थली नहीं, पुण्य-भूमि है, यह बात मानों उसका मन जोर-जोर से उद्घोषित करना चाहने लगा। वह मन भीतर तक भीग भीग गया। उसको सचमुच प्रतीति हो आई, कि उस मुनि-मार्ग में रेत ही रेत है, तनिक भी जीवन जल नहीं है, जहाँ इस प्रकार की सहानुभूति परस्पर ली-दी नहीं जा सकती है, बल्कि सर्वथा निषिद्ध बन जाती है।

उसके मन में इन रुपयों के लिए बहुत ही पवित्र भाव हो आया। उसको लगा कि वह इन्हें छू नहीं सकता। यह पूजा का अर्घ्य है। उत्कर्ष के ही काम आ सकता है। अपकर्ष के उपयोग में नहीं आ सकेगा।

राकेश ने यही लिखा : मा, मैं इस पैसे को छू नहीं सकता हूं। मैं गिर रहा हूं, और यह पैसा मुझे गिरने से बचाने वाला है। अगर आप सोचती हो कि यह गिरना उठना भी हो सकता हैं, तब दूसरी बात है। अन्यथा मैं अपात्र हूं।

पत्र आया : मैं मा नहीं हूँ। आप मुनि हैं और धर्म-अधर्म आप अधिक जानते हैं।

पढ़कर राकेश का चित्त विगलित हो गया। वह विचलित भी होने लग गया। मानो उसका संकल्प तो ठीक है, लेकिन इस श्रद्ध-नता नारी के विश्वास के साथ छल करना ठीक नहीं है। उसने यह सोचकर फिर पैसा लौटा दिया। लिखा : मेरा प्रणाम लो। लेकिन यह द्रव्य मेरे लिये निर्माल्य है। अपनी थाती तुम्हीं रखो।

पर पैसा फिर उसी के पास वापस आ गया। पत्र में लिखा हुआ था : एक पाप के बाद दूसरा करने को मैं किसी तरह तैयार नहीं हूँ। दिया पैसा छूऊँगी, तो नरक में ही जाऊँगी। क्या इतना धर्माधर्म विवेक

आपको नहीं हो सकता है ? आइन्दा मेरे पास कोई संदेश नहीं आना चाहिए ।

बस, वह दिन फिर आगे नही बढ़ाया जा सका । राकेश के लिए अपने आप सब निश्चय हो गया । उसने आचार्य श्री के लिए पत्र लिखा, और उसी रात वह मुनि संघ से ग़ायब हो गया ।...

× × ×

"कहिए ?"

"क्षमा कीजिएगा । मैं विघ्न तो नहीं बन रहा हूँ ? अपरिचित हूँ शायद, और आपका समय क़ीमती है ।"

"नही । आप को इतनी देर प्रतीक्षा में बैठना पड़ा । इसके लिए क्षमा मुझे माँग लेनी चाहिए । आज्ञा कीजिए ?"

"मैं—मैं अवसर चाहता था । अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ । क्या मेरा कुछ उपयोग हो सकता है ?"

"यानी एम० ए० नहीं हैं ? ग्रेजूएट तो होंगे ?

"जी नहीं । अँग्रेज़ी मैं नहीं जानता ।"

सम्पादक ने उस युवक को देखा । भव्य आकृति थी । परिधान शिष्ट और संभ्रान्त । आँखों पर काला चश्मा, और बदन पर सून्दर बुशर्ट । क्लीन शेव और तदनकूल केश-सज्जा । सम्पादक को साहस नहीं हो सकता था कि उसे सामान्य युवक मान ले । उसने कहा—"मैं समझा नहीं । अँग्रेज़ी पढ़ना तो इतना आम है । कि...क्या आर्थिक कारण रहे ?"

"जी नहीं । आर्थिक तो नहीं ।"

"फिर ?"

"सामाजिक कहिए ।"

"सामाजिक । सामाजिक क्या ? मैं समझा नहीं ।"

"आपने मुझे पहचाना नहीं ?"

"नहीं ।"

"कैसे पहचान सकते हैं। दूसरे वेश में—मैं मुनि था।"

"ओह!"

"जी...आपके पास आया हूं। क्या कुछ मेरा उपयोग हो सकता है?"

यहाँ से बातें चली, और ऊपर की कहानी सामने आई।

प्रश्न हुआ—"अब ?"

और संपादक किं-विमूढ़ बैठे रहे। संपादक दूर से समर्थ और बड़ा आदमी लग सकता है। पास से वह कितना असहाय व्यक्ति होता है, बेचारा वही जानता है। बोला—"कहिए, मैं क्या कर सकता हूँ ?"

"जी नहीं, मैं परामर्श के लिए आया हूं। रुपया अभी मेरे पास है। यहाँ जहाँ टिका हूँ, वहाँ पैसा नहीं लगता है।"

ठीक यही बात संपादक सोचने लग गये थे। यहाँ जीने में पैसा लगता है। हर प्रश्न पैसे का प्रश्न है। और सम्पादक वह है जो इतने पैसे पाता है कि सांस लेते हुए जीना भर हो सकता है, उसके आगे कुछ नहीं किया जा सकता। विवेचन चाहे जितना कर लो, मार्ग-निर्देश भी चाहे भरपूर कर लो। लेकिन कोई या किसी का काम कुछ नहीं किया जा सकता है। बड़े असहाय भाव से बोले—"हमारे यहाँ तो इस समय कोई जगह नहीं है। संचालक जी से बात करके देखूँगा।"

वह युवक इतना विनम्र और धीर-शालीन निकला कि उस मुद्रा से ही संपादक अपने को आर्द्र अनुभव करने लगे थे। युवक ने कहा--"जी नहीं। आप उस उत्सव में पधारे थे, तब मैं वहीं था, यद्यपि मुनि था। आपके विचारों के साहस ने मुझे सदा बल दिया है। उन विचारों की मौलिकता और मुक्तता मुझे ही नहीं, वहाँ हम सब को मुग्ध कर देती थी। उसी नाते मैं आया हूँ। अर्थ-समर्थ पुरुष के पास तो मुझे जब जाना होगा, तब देखा जायगा। नौकरी-चाकरी की बात वहाँ ही हो सकती है। लेकिन वह बात मुनि-अवस्था में मेरे लिए तुच्छ थी। आज भी

महत्त्वपूर्ण नहीं है । सौ रुपये में से मुश्किल से दस रुपया खर्च हुए हैं। यह कपड़े यों ही मिल गये हैं, और इस विषय में मुझे चिन्ता नहीं है।"

"पर, भाई," सम्पादक ने कहना शुरू किया—"पैसा वेढब चीज़ है। और दुनिया इसीलिए दुनिया हैं कि यहाँ पैसा कमाना पड़ता है । कमाना पड़ता है । कमाना मतलब कुछ वेचना । कठिन दुनिया है, भाई । और शुरू से शुरू करना हो सकता है ।"

"वह छोड़िये । विचार की शक्ति को तो आप मानते हैं ?"

"देख लिया है उस शक्ति को । और अब मैं उसे नहीं मानता हूं ।"

उस पच्चीस वर्ष के युवक के मुँह से आश्चर्य का संबोधन निकला—"ओह !"

उसको मानो चोट लगी । सामने बैठे संपादक की इस अवस्था से उसका मन जाने कैसा हुआ । शायद वह बड़ा संभ्रम लेकर आया था, और वह संभ्रम टूट रहा था । उसने कहा—"मैं आपके पास जिससे खिंचा चला आया हूँ, वह शक्ति विचार की ही है। मैं युवक हूँ। यह मेरा पच्चीसवाँ वर्ष है । मैंने नहीं देखा वह, जो आपने देखा है। इसलिए उस शक्ति में मैं अभी से श्रद्धा खो नहीं सकता। अच्छा, प्रणाम !"

"बैठो, बैठो । शायद हमारे यहाँ एक सहायक की आवश्यकता हो । हिन्दी तो तुम जानते ही हो ?"

"जी हाँ । कुछ पुस्तकें छपी भी हैं ।"

"ओह, तब ठीक है । वह सहायक की जगह—"

"जी, देखा जायगा । मै फिर आऊँगा । प्रणाम !"

"ठहरो ।...कहाँ ठहरे हो ?"

"एक जगह टिक गया हूँ ।"

"सुख से तो हो"

"जी आपकी कृपा है।"

"इस नगर में तुम्हारे पंथ के श्रद्धालु बहुत हैं। वहीं कहीं हो सकते हो ?"

"जी—नहीं।"

"ठीक है। ठीक है।"

"फिर दर्शन करूँगा। प्रणाम !"

"अच्छा, भाई। जीते रहो ! वह...बह क्या...नहीं वह सुमुखी... उनकी कृपा खोना नहीं। यह बड़ी शक्ति है, विचार नहीं। दुनिया में काम आती है यह शक्ति।"

"जी। प्रणाम !"

युवक चला गया।

और सम्पादक ने सोचा कि यदि वह...

अप्रैल' १९६२

दिन, रात, सवेरा

"...अब हम अपनी आदरणीय अभ्यागता से प्रार्थना करेंगे कि वह मंच पर आकर कृपया दर्शन दें। यदि वह अपनी एक कविता भी सुना सकेंगी तो हमारा गणतन्त्र और उसके निवासी अत्यन्त आभारी और कृतार्थ होंगे।"

अभ्यागता उठीं। वह अपने देश से कई-कई हज़ार मील दूर थीं। यहां उनकी भाषा कोई नहीं जानता। एक दुभाषिये के ज़रिये काम चल रहा था। लेकिन स्नेह की अपनी भाषा होती है। शब्द की भाषा के बिना भी उसका जादू चल जाता है। वह उसी जादुई वातावरण में थीं और हर समय ऐसा मालूम होता था कि पाँव के नीचे से गुरुत्वाकर्षण मिट गया है। वह शुद्ध आकाश में हैं। अधर में नहीं है, केवल ऊँचे में हैं। क्षुद्र कहीं कुछ नहीं रह गया है। चारों ओर भरे हुए स्नेह और प्रशंसा के वातावरण ने उनको भीतर तक भारहीन कर दिया था।

वह अपनी जगह से उठीं।

हाल खचाखच भरा था। चार हज़ार के ऊपर की क्षमता होगी। लेकिन सब मिलाकर छः हज़ार से कम आदमी वहाँ न होगा। लोग सटे-सटे बैठे थे और बहुत-से खड़े हुए थे। सब की निगाहें उठते ही एक साथ उन पर जम गईं। लोगों ने हर्ष और उल्लास में घनघोर तालियाँ पीटनी शुरू कीं। जब तक वह रोस्ट्रम पर आईं, तालियों का शोर बराबर गूँजता ही रहा। जब उन्होंने रोस्ट्रम से भारतीय पद्धति से दोनों हाथ जोड़कर तनिक सिर झुकाकर उपस्थित समुदाय को नमस्कार किया तो

तालियों का शोर एकसाथ ऊँचा उठा। फिर क्रमशः धीमा होकर एकदम शान्त हो गया। अब सुई गिरती सुनी जा सकती थी। मानो सब प्रतीक्षा में थे कि शब्द जो उनके कण्ठ से आयेगा अमृत होगा और उसकी हर बूंद के लिए व्याकुल थे। छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सबकी निगाहों में वह देखतीं कि जो उन्हें इकट्ठी देख रही थीं। देखतीं कि उन सबकी निगाहों में वही हैं। सब एकटक उन्हीं की काया पर टिकी हुई हैं। एक-दो क्षण उन्हें कुछ नहीं सूझा और अपने सामने के अपार और स्तब्ध समुदाय को वह देखती भर रहीं। फिर एकाएक उनके हाथ जुड़े और उन्होंने दूसरी बार नमस्कार किया। इस पर तालियों की गड़गड़ाहट से फिर हाल गूंज गया। हर्ष ने मानो उन्माद का ही रूप ले लिया। वे अपने को इस रूपसी कवयित्री के समक्ष अत्यन्त नगण्य गिनकर धन्य मान रहे थे। लेकिन औपचारिक नमस्कार के बाद उस देवी की ओर से यह फिर जो उनके प्रति नमन आया तो इससे उनमें उत्साह का ज्वार ही उमड़ आया। वे अपने को रोक न सके। जन-समुदाय के मर्म में से उठकर आती हुई आनन्द और भक्ति की यह लहर कवयित्री को भीतर तक भिगो गई। जाने भीतर उनके क्या हुआ कि उनका गला भर आया और आँखों में आँसू आ तैरे। उन्होंने छोटा-सा रुमाल निकालकर आँखें पोंछीं और गले को साफ करने के लिए उन्हें एकाध बार खंखारना पड़ा। उनके ये मनोभाव समस्त जन-समुदाय को प्राप्त हो गये और एक अव्यक्त घनिष्ट और स्निग्ध ऐक्य सारे में व्याप गया। एक अनिर्वचनीय विभोरता में वे गद्गद हो आये।

कवयित्री ने कविता पाठ किया। मंद और मंथर वह वाणी मानो आँसुओं से छा गई हो। वाणी उस स्पर्श से लहरती-लहरती मानो बीच में काँप आती थी। स्वर में किसी प्रकार का ताप न था, केवल निवेदन था। वह स्वर सुननेवालों के प्यासे मन पर मीठी बूँद की भाँति पड़ा। छोटी-सी कविता थी। कुछ ही समय में समाप्त हो गई और कवियित्री ने फिर हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

अब जो तालियों की गड़गड़ाहट हुई उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कवयित्री मंच से चलकर अपनी जगह तक आ गईं, आकर बैठ गईं, तब भी वह ध्वनि कम न हुई। बल्कि कम होकर फिर जो एक बार ऊंची चढ़ी तो मालूम हुआ कि जनता फिर दर्शन चाहती है, अन्यथा शान्त नहीं हो सकती। कवयित्री को फिर स्थान से उठना पड़ा। समक्ष आकर दोनों हाथ जोड़कर फिर उसने प्रणाम किया। प्रणाम सबको पहुंचे इसमें उसने मानो आधी प्रदक्षिणा भी की। इस पर आनन्द का निनाद चरम आरोह पर पहुंचा और जब वह देवी अपने स्थान पर बैठकर मानो आँखों से ओझल हो गई तब वह शान्त हुआ।

फिर कवयित्री को नहीं मालूम क्या होता रहा। शायद भाषण हुए जो उसी की प्रशंसा में थे। लेकिन उनकी भाषा वह समझ नहीं पाई। सच में उसे उनमें रुचि ही नहीं थी। वह खो चुकी थी। खो चुकी थी जाने कहां? हाल में भरे हुए स्त्री-पुरुषों के समुदाय के ऊपर से होती हुई, हाल को पार कर, समय को पार कर, मानो अलंघ्य विस्तार को पार कर वह पहूंच गई थी वहाँ जहाँ और कोई भी नहीं पहुँच सकता है। जहाँ पहुंचते ही उसे डर होता था। और जिस डर से बचने के लिए वह इस विदेश की प्रशंसा की शरण में भाग आई थी!

उसे नहीं मालूम कि कब जलसा खतम हुआ। मानो बादलों पर बिठाकर उसे ले जाया गया था। सैकड़ों ने उसके हाथों की उँगलियों के पोरों को चूमा था। उसे बधाइयाँ मिली थीं और बधाइयों के फूलों से वह दब गई थी। उपहार मिले थे और उपहारों के बोझ से साथ वाला आदमी भर गया था। और इस सबके बीच वह वहाँ थी जहाँ से उसे डर होता था। जहाँ नहीं होना चाहती थी पर जिसको किसी तरह अपने से हटा नहीं सकती थी। उसके इस दूरान्त भाव का जो प्रभाव पड़ा, वह जनता को मोहकर पागल कर देनेवाला था। वे देखते थे कि जो मुस्कराहट है उसमें वह उनकी देवी समाप्त नहीं है। जो सौजन्य, जो शिष्टाचार, जो शालीनता है, सब नीचे ही नीचे है, देवी ऊपर है। और यह उसका

उत्तीर्ण और तटस्थ यह भाव लोगों में विस्मय और एक प्रकार का आतंक और अपरिचय भर देता था। वह उन्हें समझ नहीं पड़ती थीं। मानो वे जहाँ है देवी वहाँ से अगम है।

बाद में गिने-चुने लोगों की पार्टी हुई। वह राजकीय उद्यान में की गई थी और राज्य के सब विशिष्ट अतिथि उसमें शामिल थे। वहाँ कवियित्री को केन्द्र बनाकर बारी-बारी से राजन्य वर्ग आता और उसके हाथ को उठाकर अत्यन्त सम्मान के साथ उसका चुम्बन करता था। जिस निस्पृह फिर भी सलज्ज और आभिजात्य की भावाभिषिक्त मुद्रा से उसने ऐसे अवसर पर व्यवहार किया उसने सबका मन मोह लिया। चेहरे पर जो प्रसन्नता दीखी उसमें मानो विषाद की कोर मिली हुई थी और यह भाव देखने वाले के चित्त को छुए विना न रहता था। मानो ऐसे अवसर उस देवी के लिए सामान्य हों और उसमें कोई उत्कंठा पैदा न कर पाते हों, किंचित् कष्ट ही देते हों।

यह क्रम चलता ही रहा और मानो समय खिंचकर इसी भाव से भोज की घड़ी तक आ गया। भोज उसी होटल में था जहां उसको ठहराया गया था और जो देश का सर्वोत्कृष्ट स्थान माना जाता था। पैंतीस के लगभग गिने-चुने व्यक्ति वहाँ थे और वहाँ स्वास्थ्य-पान किया गया और अनन्तर कवयित्री की अभ्यर्थना में दो-दो, चार-चार शब्दों में अनेकों ने उसका अभिवादन किया। भोजनशाला के हाल में मनोरंजन के लिए नृत्य का कार्यक्रम था और यह सब क्रम चलता रहा कि जब तक तिथि न बदल गई और एक न बज आया !

उस समय लोग उठे और उस देश के प्रधान मन्त्री और संस्कृति मन्त्री और देश की प्रमुख नृत्यांगना और सर्वश्रेष्ठ कवि साथ-साथ चले और उसके कमरे के द्वार पर आकर शुभ-रात्रि की कामना करते हुए विदा ले गये। होटल के परिचारक ने दरवाजा खोला। अन्दर का दूसरा दरवाजा खोला और कवियित्री अपने कमरे में आ गई। परिचारक सिर झुकाकर क्रमशः दरवाजे भेड़ते हुए बाहर चला गया।

वह अपनी जगह खड़ी रही। जैसे कि सूझ न रहा हो कि वह कहाँ है और क्या करे? उसको कमरा अपरिचित मालूम हुआ। उसने मानो सामने की दीवारों को देखा कि जैसे उसे समझ लेना चाह रही हो। उस पर बड़ा कोट था और हाथ में छोटा बैग भी था और पाँव में देशी जूतियाँ थी और सब कुछ ज्यों का त्यों था। वह घड़ी भर इसी तरह खड़ी रह गई। फिर बेग मेज पर रखा, कोट उतार कर सोफे पर डाला और गहरी आराम कुर्सी में बैठ गई। उसने ठोढ़ी को हाथों में लिया, काउच की बाँह पर रखी कोहनी पर टिकी हथेलियों में कनपटियों को टिकाया और सोचती रही। नहीं, सोच नहीं रही थी। जैसे सब कुछ भीतर उसके शून्य था और क्रियामात्र निष्क्रिय थी। फिर वह उठी, पर्दा ऊपर उठा दिया और दाहिनी तरफ की खिड़की खोली। खुलते ही सर्द हवा का झोंका सीधा उसके चेहरे पर लगा जो उसे अच्छा मालूम हुआ। हवा गहरी सर्द थी। लेकिन जैसे उसे उस समय यही प्रिय थी। कमरा नवीं मंजिल पर था और वहाँ से थोड़ी दूर पर मीनार में लगी घड़ी दीख जाती थी। बाहर मकान सो रहे थे जो ज्यादातर उससे नीचे थे। और जहाँ ही तहाँ कुछ ऊँचे और कहीं-कहीं रोशन दिखते थे। उसे एकबार यह ख्याल कौंध गया कि इस नगरी के संख्या कमरों में कितने दो-दो जोड़ी में होंगे, कितने एक अकेले सो रहे होंगे। उसने ख्याल को हटाया। लेकिन, जैसे वह गहरे में एक चुभन दे गया था। वह खुली खिड़की से बाहर शहर की ओर देखती रही, देखती रही। इस समय कविता सब उसमें शून्य हो गई थी और उसको यह याद नहीं रह गया था कि समय सोने का है। उसको आज का दिन याद आता था, और नहीं याद आता था। क्या वह सिद्धियों और विजयों से भरा हुआ न था? लेकिन, कहाँ? उसके हाथ में तो कुछ नहीं आया। वे हाथ कोरे और रीते रह गये हैं। और मानो इस सूने में सामने होकर फैल आना चाहते हैं कि कुछ उनमें आए। वह सब फूल और भेंट जिनका ढेर उसके कमरे में एक तरफ लग गया है उसे दीखते नहीं। देखने को मन नहीं होता। बाहर जो नीला और काला आसमान खिला है उसमें जहाँ-तहाँ बूंदियों

सी रोशनियाँ जगमग कर उठती हैं। मानों उन्हीं के प्रति प्रश्न फेंकती हुई वह खिड़की में खड़ी है कि, क्या है ? और क्या मेरा है ?

ताकीद थी कि सर्द जगह है और भारत से आने के कारण कवयित्री को ध्यान रखना चाहिए। पर उसने बढ़कर दूसरे पर्दे को भी उठा दिया और खिड़की को पूरा खोल डाला। वही हवा जो सर्द थी साँस की सीटी सी भरती हुई उस खिड़की में से दौड़ पडी। झोंका तेज़ था और कवयित्री को वह उतना ही प्रिय हुआ। उसे इच्छा हुई कि दूसरी दीवारों में भी खिड़कियाँ होतीं, जो कि थी नहीं। वह भरपूर छककर उत्तरी ध्रुव से आती हुई उस हवा को लेती और पीती रही। मानो कि उसमें वह जमकर बर्फ बनती चली गई। वह जैसे चाहती थी कि शरीर न रह जाए, सब बर्फ की सिल ही बन जाए। सब संवेदन जड़ीभूत होकर समाप्त हो जाए। क्या होता है इस संवेदन से, सिवा कष्ट के ? आये हवा और आए बर्फ कि उसकी सारी चेतना को सारी संवेदना को खींच ले जाए और बर्फ बनी हुई उसको छोड़ जाए। अगर मूरत की मानिन्द वह रहे, कहीं साँस रहे नहीं, धड़कन रहे नहीं कि जिसे रिश्ते की खोज हो तो कितना अच्छा है। मैं होकर जो तू को खोजना और याद रखना—पड़ता है सो मुसीबत के सिवा क्या है ? मैं ही मिटे तो कितना अच्छा कि सब 'उस' और 'तुम' को एक बार ही छुट्टी मिल जाय ! सब एकमेक हो जाय और किसी रिश्ते और याद की गुंजाइश न रह जाए। आदमी चीज़ हो और अचल होकर पड़ा रहे कि जहाँ पड़ा है। न हिस रह जाए, न हिसाब रह जाए। कोई हरकत ही न रह जाए, न जरूरत। कहीं किसी तरह की इच्छा ही न उठने पाये। न भाव हो, न अभाव लगे। और वह खिड़की में से भरपूर हवा को चेहरे पर लेती हुई खड़ी रही कि देखें, वह कब जम जाती है !

सचमुच होते-होते उसके शरीर की त्वचा मानो निस्पन्द होने लगी। उसका संवेदन शून्य होने लगा। हाथ में मानो सिमटने-फैलने की शक्ति न रह गई हो। मानो सचमुच वह थिरीभूत हुई जा रही हो। तब उसे

एक साथ डर लग आया। उसने खिड़कियाँ बन्द कीं और वापिस हुई। उसके हाथ कड़ाके की सर्दी में कड़े पड़ गये थे और वह हथेलियों को मल कर उनमें जान डालने की कोशिश कर रही थी। मुड़कर उसने बिस्तर की शीट उठाकर एक तरफ की और वह रजाई के नीचे घुसने को हुई। पांव ठिठुरे हुए मालूम हुए, जैसे सारे बदन में सर्दी का परस छू गया था और अकड़ाहट भर गई थी। उसने धोती नहीं बदली, रात की पोशाक नहीं पहनी, न उसे अब तक हीटर को तेज़ करने की याद आई थी। बैठे-बैठे उसे यह याद आया, लेकिन हाथों और बाँहों को रजाई में लेकर वह प्रमाद में बैठी रह गई. कुछ करने को उठी नहीं। मालूम हुआ कि बत्ती कई जली हुई हैं और उठकर ही एक-एक स्विच को बन्द किया जा सकता है। मानो इस सोचने का उसे आभास हुआ। किन्तु अन्त में उठना ही पड़ा, उठकर कपड़े उतार दिये, रात का सूट पहना, हीटर बढ़ाया और एक-एक बत्तियाँ गुल की। जब सिर्फ बैड स्विच वाली बत्ती रही तो वह पलंग में आ लेटी।

नींद उसे अपने-आप आती नहीं है। सदा किताब का सहारा लेना होता है। इस बार उसने किताब कोई हाथ में नहीं ली और वह छत की ओर देखती ही पड़ी रही। ओह! यह क्या होने लगा उसको? छत में उसे जाने क्या-क्या दीखने लगा। उसने बहुत बरजा, बहुत बहुत रोका, आखों को मींचा। लेकिन, वह दृश्य छत पर से हटते नहीं थे। आँखें उठतीं तो वही दृश्य सामने आ जाता। उसको रह-रहकर अपनी ही काया दीखतीं और उसके साथ होते हुए खेल दीखते। वह प्रतिमा की तरह लीलाभाव में खड़ी है—और एक पुजारी उसके पाँवों को चूम रहा है।...कहा जा रहा है, 'नहीं, ऐसे नहीं'!' और ठोडी और कनपटी को लेकर आहिस्ता-आहिस्ता ज़रा चेहरे को बायीं ओर कर दिया जाता है। "बस, बस! ज़रा मुस्कराओ।...अरे, अरे, यह क्या...क्या, हाथ को वहाँ से हटाओ। हाँ हाँ...चेहरे पर लाज आती है तो क्या बुरी है? बड़ी खूबसूरत लगती हो।" वह तरह-तरह से अपने खुले शरीर को

देखती है और नहीं देखना चाहती। वह दृश्य में नहीं विचार में रहना चाहती है। लेकिन विचार से चित्त नहीं भरता और चित्र बनकर जाने किस मुद्रा में उसकी आँखों के आगे अपना शरीर ही बार-बार दिखाई दे आता है। देख रही है कि उसके शरीर पर अभ्यास हो रहा है। उसको दला और मसला जा रहा है। और देखकर जाने कैसा लगता है। कैसा लगता है कि उसका ही चेहरा पीड़ा से और और आनन्द से विह्वल हुआ जा रहा है! उस आदमी को नहीं देखती और अचरज है कि आदमी दीख पाता ही नहीं। अपनी ही अपनी काया दीखती है और हर घौरता, हर बर्बरता, हर अभ्यर्थना और हर पूजा में उसे अपनी काया में पुलक भरता भी दीखता और अनुभव होता है!

वह इन चित्रों से घबरा उठी। उसने चाहा कि सब भाग जाएँ। आँखों से भाग जायँ और उन आँखों में नींद आ जाय। लेकिन उन चित्रों का नृत्य द्रुत ही होता जा रहा था। वह नर्तन उसके भीतर मानो जोर-जोर से घुमड़ने लगा। उसमें अब कुछ पहचान न पड़ता था। अपनी काया अलग न दीखती थी। मानो पता न चलता था कि काया दो हैं, अंग अलग-अलग हैं, और जाने किसका कहाँ क्या है? उसने करवट ली, कई करवटें ली। एक तकिये को नीचे से खींचकर मुंह पर रख लिया और वहाँ जोर से दबाया। लेकिन फल कुछ नहीं निकलता था। मूरतें दूर नहीं होती थीं और उनका नाच तेज़ से तेज़ पड़ता जा रहा था और—सहसा वह चीख उठी। नाच उसके आँखों के आगे से बन्द हो गया था। बस एक थिर मूरत खड़ी हो गई थी।

वह थिर मूरत और थिर और स्तब्ध होती चली गई।

"यह क्या है?? ये लकीर—!" और मूरत कराह उठी।

"कपड़े पहन लो। सुनो, कपड़े पहन लो।"

मूरत ने कपड़े नहीं पहने। वो थिर की थिर सुन्न खड़ी रही। और उस मूरत को देखती हुई बिस्तर में पड़ी-पड़ी वह सिसक उठी।

"सुनती हो? कपड़े पहन लो!"

कवयित्री सिसकती रही। और मूरत उसके सामने स्तब्ध ठिठकी ही खड़ी रह गई, उसने कपड़े पहनने की कोशिश नहीं की।

"बन्द करो, कपड़े डाल लो। मैं देख नहीं सकता।"

कवयित्री हिचकियाँ ले-लेकर रोने लगी और मूरत आँख फाड़े ज्यों की त्यों सिल बनी मानो कहने वाले को देखती रही।

"क्या वहशीपना है! सुना नहीं? कपड़े ऊपर डालो!"

"लकीरें!" और मूरत ने हाथ नीचे करके कहा—"ये लकीरें? ये माँ-पने की हैं! तुम जानते नहीं थे?"

"ओह!···मैं अन्धा बन गया था। और देखो वह···" कहते-कहते आदमी के चेहरे पर मायूसी लिख गई, और बोला,

"माडल में ये चल नहीं सकतीं।"

कवयित्री की सिसकी बँध गई और आँखों के सामने की उसकी मूरत चलती हुई आईने के आगे आ खड़ी हो गई। वह आईना बहुत बड़ा था और उसमें उसने अपने बहुत अक्स देखे थे। अब उसी चेहरे को देखा, गर्दन और बाँहों को देखा, उस को देखा, जाँघों को देखा, टाँगों को देखा, पाँवों को देखा। सब देखा, जैसे पत्थर को देखती हो, लौटकर कहा—फिर तुम तुम ठीक कहते हो। मैं माडल नहीं हूं।" कहकर मूरत मरगई थी और उसने अपने सारे कपड़े पहन लिये थे।

कवयित्री को चैन नहीं था। अब मूरत उसके सामने से ओझल हो गई थी। करवटें बदलते-बदलते वह बिस्तर में से उठ बैठी। कपड़े बदन पर से नोचकर उसने दूर फेंक दिये और तकिये पर पटक-पटककर सिर धुनने लग गई। जैसे वह फन हो और इसी तरह पटक-पटककर उसे कुचल डालना चाहती हो। उसने तकिये को मसोसा। और फिर तकिये को बदन पर डालकर उसे अपने पर जोर से मसल लिया। वह बिन पानी की मछली की तरह बिस्तर पर तड़फड़ाती रही। रजाई फेंकती, ओढ़ती और फिर फेंकती। तकिये को मानो चीर-चीरकर उधेड़ देना चाहती, फिर छाती से लगाकर कस लेती और फिर फेंक देती। उसका रोना रुकता नहीं था। कभी उफनता था और कभी बस—रिसने लग जाता

था। वह अपने को भूली नहीं थी। जानती थी कि कवयित्री है और बहुत ही उसका गौरव और मान है। और आज के दिन के सारे सम्मान और गर्व को इस समय याद करके वह अपना लेना चाहती है। लेकिन सब एक दम दूर खड़ा रह जाता था और उसका रोना उसमें से बन्द न होता था! ऐसे समय निकलता चला गया और नींद नहीं आई। पाँच बज गया। छः भी बज गया। रात सारी ही निकल गई। उसे छन की कल नहीं पड़ी। अपनी बेकली को वह किसी भी तरह साध नहीं पाई, तेल में भुनती मछली की तरह छटपटाती ही रही।

मालूम नहीं विधान क्या है। छः बजे उस हारी-थकी पर आखिर नींद आई। लेकिन जब पास की घंटी लगातार आवाज में बजती ही चली गई, तो नींद टूटी! टेलीफोन उठाकर पूछा, तो मालूम हुआ कि शहर के कार्पोरेशन के मेयर और वरिष्ठ सदस्य नीचे हाल में आ गये हैं। श्रीमती जी के अभिवादनार्थ कब द्वार पर उपस्थित हो सकते हैं?

उसने कहा—"पन्द्रह मिनट दे सकिएगा? आभार मानूँगी।"

"अवश्य-अवश्य! देवीजी को जो सुविधा हो।"

उसने धप् से टेलीफोन बन्द किया और बिस्तर से बाहर हुई! उसकी काया पर एक वस्त्र न था। आलमारी में लगे बड़े शीशे के सामने जाकर उसने अपने को देखा। झुककर लकीरों को देखा, पहचाना। किंचित् मुस्कराई और बाथरूम में चली गई। तैयार होकर निकली तो फोन उठाकर कहा—कृपया सबको भेज दीजिए। और सबके लिए अल्पाहार। मेरा सुप्रभात भी सबको दीजिए!

नवम्बर' १९६१

दो सहेलियाँ

जसोदा नींद में थी उसके दरवाजे पर खटखट हुई। वह जैसे-तैसे उठी तो देखा, वसुधा दरवाजे पर खड़ी हुई है। उसे अचरज अचरज हुआ और बसु ने पूछा—"क्यों, सो गई थी ?"

"आना है तो आ, दरवाजे में खड़ी क्यों रह गई ? कितनी सर्दी है !"

बसु अन्दर आई और जसोदा ने जल्दी किवाड़ बन्द कर लिये, पूछा—"क्या वक्त है ?"

बसु ने कलाई की घड़ी में देखकर कहा—"साढ़े ग्यारह भी अभी नहीं हुआ। गाढ़ी नींद में से उठना पड़ा क्या ?"

"कहाँ से आ रही है, इस वक्त ?"

"कुछ नही। मोहन कहाँ है ?"

"दो रोज के लिए कानपुर गया है।"

"तो ठीक है," कहती हुई बसु कुर्सी से उठी, कोट उतारा, जूते खोले, हाथ के दस्ताने उतार कर फेंके, और जसोदा के बिस्तर में आ गई।

"यह क्या कर रही है ?"

"तू बहुत अकेली सोती है। आज अकेली नहीं रहेगी।"

"क्या हुआ है तुझे ? थकी दिखती है। चाय बनाऊं ?"

"छोड़, यह कोई चाय का वक्त है ?···बत्ती कर दूं, सोऊंगी।"

"भली मानस, तुझे हुआ क्या है ?"

"होता क्या, तेरा वियोग हरने आई हूं।"

"क्यों, तेरे वंसीधारी तुझे छोड़ गए ?"

"तभी तो आई हूँ कि वह कभी छोड़ते ही नहीं। तू तो जानती है। आज भर नींद सोऊंगी।"

"घर पर सब जन होंगे। सो, अकेले रहेंगे ?"

"कौन अकेला रहेगा ? कोई अब ऐसा अयाना तो है नही। कमबख्त एक रोज़ तो आराम मिले।"

"अच्छा, अच्छा। चल लेट जा ! मैं अभी बनाके तुझे चाय पिलाती हूं।"

"नहीं-नहीं, जसु, वह सब नहीं। वैसे सर्दी है, और एक कप चाय रहे तो है तो अच्छा। लेकिन, कसम कि तू उठी। मुझे बता, मैं सब किये देती हूँ।"

ये दोनों पुरानी सहेलियाँ हैं। दोनों की उमर पैंतालीस पार कर गई है। जसोदा पचास तक पहुँच गई है। कभी एक स्कूल में वे दोनों ही साथ पढ़ती थीं, जसोदा दो क्लास ऊपर होगी। तभी से बहनापा चला आता है। जसु सम्पन्न घर की थी और बसु का परिवार सामान्य स्थिति का था। बसु कुछ छोटी भी थी, और जसु ने उसे मानो अपने आश्रय में ले लिया था। दोनों स्कूल में सबसे सुन्दर समझी जाती थीं। खास कर जसोदा ! लेकिन, स्कूल के बाद दोनों की राहें अलग-अलग हो गईं। ब्याह हुए, बाल-बच्चे हुए, और बीस-बाईस साल निकल गए। इस नगर में आकर फिर जो अचानक उनका मिलना हुआ तो स्थिति बदली हुई थी। जसु का हाल बेहाल था और बसु बहुत अच्छे वेतन और पद पर थी। बसु की शादी साधारण हुई थी और पति अब भी वही थे। लेकिन बसु अध्यवसाय पूर्वक पढ़ती और परीक्षा देती ही चली गई थी। स्कालर-सिप पर विलायत भी हो आई थी। किन्तु गिरिस्ती वही रही थी और छः-सात उसके बच्चे थे। छः बच्चे जसोदा के भी थे, लेकिन विवाह असफल हो गया था। पति कहीं थे, यह यहाँ थी। बाल-बच्चे सब अपनी जगह जम गए थे, एक मोहन पास रहता था। बाप कभी के मर चुके थे कि जिनके रहते सब हरा ही हरा था। अब बानक सब बिगड़ चुका

था। कहीं स्कूल में पढ़ा कर जीविका चलाती थी और ज्यों-त्यों सबसे छोटे मोहन को पास रख रखकर कालेज पढ़ा रही थी।

बसु पुराने दिन भूली न थी और इस हालत में भी उसने पूरे अपनेपन के साथ जसोदा को अपनाया। उसे भरसक कष्ट न होने देती थी, और और अपनी व्यस्तता में से जब भी होता समय निकाल कर जसोदा के पास आ जाती थी। तब मिल कर दोनों जनी भूल जातीं कि दोनों दादी-नानी बन गई हैं। मानो दोनों बच्ची बन आती, तू तड़ाक से बोलतीं, और दंगा मस्ती भी कर बैठतीं। जसोदा कुछ मोटी हो गई थी और बसु जो इकहरी हुआ करती थी अब बदन में भर आई थी। लेकिन दोनों अकेली होतीं तो लिपट के लेटतीं, और जाने घंटों क्या-क्या बातें करती थीं।

बसु उठने लगी तो जसोदा ने धोती पकड़कर उसे बिठा लिया कहा—"बैठ, बैठ! आई बड़ी चाय वाली! अफसरनी है, तुझे स्टोव जलाना भी क्या आता होगा।"

"तू तो मेरी खसम ही बनी जा रही है। वही हैं जो मुझे कुछ नहीं करने देते हैं, स्टोव भी खुद जलाते हैं। सच कहती हूं, जसु, जब वह स्टोव जलाते हैं, और काम करते हैं, तो मुझे बड़ा मजा आता है। पर तू ठहरी गठिया वाली, दो कदम चलते तो आह-ऊंह करती है। बैठ-बैठ, एक तो मुझे कुछ करने दे।"

सच बात थी, जसोदा जब मोटी हो गई है सो जोड़ों में भी दर्द रहने लगा है। हारे मन काम पर जाती तो है, क्योकि उपाय नहीं है। पर बदन आराम चाहता है। यह कमरा भी उसे तीसरी मंजिल पर मिला है कि एक बार नीचे उतरना होता है कि चढ़ने में बुरी तरह हाँफ जाती है। अनमने मन से अन्त में उसने बसु को उठ जाने दिया और बसु ने सचमुच रजाई में से निकल कर स्टोव सुलगाना शुरू कर दिया।

जसु ने कहा—"पगली, इस वक्त दूध तेरे लिए कहाँ रखा हुआ होगा?"

"कोई बात नहीं, बिना दूध के क्या तेरे हलक में चाय जायेगी नहीं?"

"ना बाबा मैं तो दुनिया घूमी नहीं हूं कि सब हजम। मुझसे नहीं पी जायगी।"

"तो ऐसी तैसी चाय की। मैं कौन उसके बिना मरी जा रही हूँ।" कहकर उसने जोर के हाथ से स्ठोव को परे हटाया और फिर जसु के पलंग में आ गई। उसने रजाई में घुसते-घुसते जसु को पकड़ के चूम लिया। बोली—"सच बता, याद नहीं आती?"

"चल हट, होश कर!" कहकर जसु ने बसु के गाल पर चपत लगाया और उसे जबर्ददस्ती पास लिटाकर अंक में भर लिया। फिर दोनों जनियों में बातें होने लगी। मालूम हुआ कि उन बातों में न आर है, न पार है। दोनों की विपरीत स्थिति है। जसु बिना पति है और बसु को बेहद पति का साथ रहता है।

बसु ने कहा—"सुन, तुझे इतनी क्या जिद है?"

"नही नहीं, बसु, ये नहीं हो सकता।"

"कोई बीमारी तो नहीं है न?"

"चल हट! क्या बकवास करती है!"

"फिर क्या बात है? बदन में उनके बू आती है? आखिर उन्ही से तो तुझे छः बच्चे हुए हैं!"

"हुए हैं, पर तुम नहीं जानती।"

"क्या नहीं जानती, बताती क्यों नहीं?"

"क्या बताऊँ? बस जाने कैसा-कैसा होता है। एक छन मैं सह नही सकती। सामना तक नहीं सह सकती। अब भी आते हैं, लेकिन पता लगते ही मैं चली जाती हूं। जाने जी कैसा हो आता है।"

"जी के काबू में क्यों होती है! मुझे देख, मैं भी अपने को संभाले हूँ कि नहीं? उनको तो तैंने देखा है। हैं कि नहीं चश्मेबद्दूर। लेकिन निभाये जा रही हूं। सच कहती हूं, जी में कभी ऐसी घिन होती है कि आत्म-हत्या कर लूँ। पर नहीं, रोज पलंग पर साथ सोना पड़ता है। यही कहती हूं,

जसु, मन के छलावे में रहने से फायदा नहीं है। मन मार कर ही रहना हो पाता है।"

"सच बसु! यही मेरी समझ में नहीं आता कि मेरी जैसी रहे तो रहे, तुझे मन मार कर क्यों रहना पड़ता है? हजार के पास तेरी तनखा होगी। क्या तुझे नहीं जुट सकता? फिर क्यों एसी मरी और बुझी रहती है तू?"

"खुद मेरी समझ में भी नहीं आता। स्वच्छन्द जीवन मैंने नहीं देखा है, सो नहीं। नही भोगा है, सो भी नहीं। लेकिन आदत पड़ गई है। जाती हूं किसी मीटिंग में और दो-ढाई घण्टे तक भी मीटिंग कभी चल जाती है। वह मोटर लिये इन्तजार में बराबर खड़े रहते हैं। ड्राइवर को तनखाह देनी पड़ सकती थी और ड्यूटी के घण्टे भी होते। यही तो है कि इनको मेरे पलंग पर आने की इजाजत है-तो इसमें कौन घाटे का सौदा है?"

"बन्धन नहीं रहता?"

"शायद रहता है। पर इस उमर में तो वह सहारा भी है। एक उमर थी, मैं घूमा करती थी। लेकिन अब क्या यह आराम की बात नहीं है कि घर पहुँचती हूँ कि सब किया कराया मिलता है? बस इतना है कि कभी उस सेवा से मन इस कदर तंग आ जाता है कि बस क्या करूँ? मर्द एक काम में मर्द हो तो उतने से तो चलता नहीं है। बाकी जिन्दगी में भी तो उसे मर्द होना चाहिए। पर उन्हें बस क्या कहूं।"

जसु हँस पड़ी। उसने जोर से बसु को अपने अंक में भर लिया। बोली—"अरी तू बड़ी बड़भागिन है कि ऐसा खादिम पति तुझे मिला है। हमारे वो तो···"

"सब कसूर तेरा है!"

"मेरा क्या कसूर है?"

"तेरे दिमाग से वह दूसरी सूरत निकली नहीं है ना!"

"इसमें बता मैं क्या करूँ?"

"करे क्या, निकाल बाहर कर दे। बता, शादी के बाद से तैंने उसे कभी देखा भी है ? कुछ खबर भी है ? फिर खामखाह उसे दिल में रखे हुए है। ऐसे मुसीबत न बने तो और क्या होगा ? अच्छा बोल, मिलेगी ?"

"क्या कह रही है !"

"आज मैंने उसे देखा था। दाद देती हूं तेरी निगाह की। सच, एक ही आदमी है। तुझे बताऊँ...। रिहर्सल में जाने उसे किसने बुलाया था। नाम तो तुझ से ही सुना था। पर पहले तो कभी किसी रिहर्सल, ड्रामा या प्रोग्राम में उसकी बात न थी। एक नई लड़की रिहर्सल में आई थी और उसी ने आग्रह पूर्वक उसे बुलाया था।......जलती तो नहीं है तू सुनकर कि मैंने उससे घुट-घुटकर बातें की ! सच कहती हूं कि चाहूँ तो मैं उसे लट्टू कर सकती हूँ। बोल, मिलेगी ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"कह दिया, नहीं। बस चुप रह।"

"तेरा ज़िकर नहीं आया। कैसे कहती कि मैं तुझे जानती हूं ! सच, जसु उसकी आँखें भटकती सी मालूम होती थीं। उसका बदन वैसे उमर के लिहाज से काफी कसा हुआ था। लेकिन बाल कनपटी पर से पक गये हैं। सामने के कुछ उड़े हुए हैं और कपाल चमकीला लगता है। कुल मिलाकर एक रौब था चेहरे पर। मगर एक सूनापन भी था। मैंने पूछा-जाना नहीं कि क्या हाल है और परिवार उनका क्या है ? तू ही कहती थी कि देश से चले गये थे, बहुत बरसों बाद वहाँ फ्राँस मे ही शादी कर ली थी। कर ली होगी, ज़सु, पर निगाह भटकी-भटकी लगती थी।"

"चुप नहीं होगी तू !"

"क्यों मन मार कर रहती है—बहना। इसमें कुछ मिला है, मिलता है ? मिल सकता है ? बोल, घर पर तुम दोनों को बुलाऊँ ?"

"मैं कहती हूं, चुप कर।"

''क्यों करूँ चुप ? आज चुप होने के लिये नहीं आई हूँ। कैसा रानी सा दिपता मुखड़ा था—उस काया का तैंने यह क्या कर लिया है ! सत्तर रुपये की नौकरी करती है। एक वह दिन था कि हम सब स्कूल में तेरे नखरे उठाते थे और अपने को धन्न मानते थे। तू देव कन्या थी। सारे स्कूल की शोभा और श्री एक तुझसे थी। लेकिन फिर······मैं न कहती, अगर तू पति के साथ रहती। तो शायद वह उचित न था। पर अब तो वह बात रही नहीं। सुनसान वीरान तैंने अपने को बना रखा है। मेरी आँखों से देख कि अब भी तुझ में क्या है ! अरी, तन तो हम लोगों का लुट ही चुका है। शिकायत तो लोगों को उसकी ही वजह से रहती है। अब वहाँ की सँभावनाएँ भला हममें क्या आयेंगी। लेकिन मनमें अगर हरियाला सोता कहीं से आज भी फूट-फूटले तो क्या उससे तुझे अच्छा न लगेगा ? क्या इससे जीवन में एक धन्यता ही न आ जायेगी।"

"मैं कहती हूं, मार बैठूंगी। नहीं तो चुप रह।"

"मार न ले मेरी लाडो। लेकिन तू अपने से क्यों इतनी रूठी है ?"

जसु ने सचमुच बसु के एक थप्पड़ लगाया और बसु ने उस हाथ को लेकर चूम लिया। उसने हाथ देकर उसके दोनों वक्षों के बीच जगह की और अपना मुंह उसमें गाड़ लिया।

जसु को क्या हुआ कि उसने बसु के सिर पर हाथ रख कर उसके मुख को खींचा और अपने में और गहरा सटा लिया। और मानो इसमें उसे बड़ी तृप्ति जान पड़ी। थोड़ी देर में बसु का चेहरा वहाँ से हट आया। और वह बोली—''बोल जसु, बोलती क्यों नहीं है ? कुछ कहती क्यों नहीं है ?"

''तू पागल हो गई है क्या ?''

"हाँ, पागल हो गई। हूं रात को रोज तुझे याद करती हूं। वह पलंग पर आते हैं और मैं तुझे याद करने लगती हूं। याद करती हूँ कि तू अकली है, और तू है जो अकेली होने के लिए नहीं है।''

''तू तो मन मारने की बात कहती थी अभी ?"

"हां, कहती थी। पर आदमी की देह को ऊपर सहने में जो मन मारना होता है, वह और है।"

जसु हंस आई। और बोली—"वह तू कर सकती है?"

"करती ही हूँ।"

"नहीं भाई, मैं नहीं कर सकती!"

"इसी से कहती हूं कि एक दफे मौका दे कि मैं मिला दूँ। अपने से बैर न ठान।"

"किसे मिला दे?"

"उसी तेरे किशन को। आज मैंने देखा है। आज भी वह किशन है, आज भी तुझे नहीं भूला है।"

"तू कैसे कहती है?"

"कहती हूं, कहती हूं। सौ में सौ बार कहती हूँ। उसकी आँखें नहीं तो फिर क्या ढूँढ रही थी?

"सोयेगी नहीं? कि चबर-चबर किये जाएगी!"

"रोज तुझे नींद आ जाती है? अकेले अकेले आ जाती है? कभी थकने को जी नहीं होता—कि बाद फिर नींद गाढ़ी आए!"

'बस, चुप।"

"अच्छा, यह बता कि उनमें बात क्या है? कसरती हैं, हट्टे कट्टे हैं। लम्बे चौड़े हैं। और तुझे चाहते हैं। फिर बात क्या है?"

जसु धीमे से हंसी। "तेरे वाले से अच्छे हैं, यही न तू कहती है। चल मान लिया अच्छे हैं।"

"मान कैसे लिया। लाख लाख अच्छे हैं। और मैं हजार रुपये की अफ़-सरनी हूँ, फिर भी चला लेती हूँ। तू सत्तर की मास्टरनी है, फिर तेरे ये नखरे क्यों हैं?"

जसु ने हंस कर कहा—"नखरे जो ठहरे। वे भी क्या वजह से होते हैं? चल, अब सो!"

"फिर क्या बात हैं, सच बता।"

"अरे वे सन्त-महात्मा हैं !"

"सच ?"

"और नहीं तो क्या ?"

"उस दिन तो कहती थी—"

"क्या कहती थी ?"

' कि उन्होंने हाथ लेना चाहा और तू घिन के मारे छिटक के अलग हट गई !"

हंस कर ही जसु बोली—"नहीं तो संत-महात्मा को कहीं भिरिष्ट किया जाता है क्या ?"

"तू उन्हें तरसाती है ! भला मानस, ऐसे धोखा खायेगा। मरद का दिल शीशा होता है। जरा में तरेड़ खा जाता है। मरद तो मरद है। आखिर बिगाड़ तो औरत को भोगना होता है। बेसहारा वही बनती है।"

जसु मुस्करा कर रह गई। बोली नहीं।

बसु ने कहा—"बोलती क्यों नहीं है, भागवान् ? मुस्कराती क्यों रह जाती है ? जानती है, इस मुस्कान में तेरे क्या विष है ? जी होता है, तेरे तन को नंगा करके मैं ही उस पर कूद-फाँद लू। हाय, बेचारा वह मर्द जिसे तू तरसा-तरसा के मारती है !"

"सिड़ी तो नहीं हो गई है तू ? अब तेरी जुबान बन्द न रहेगी तो कैंची से काट दूंगी।"

"काट दे, काट दे, कि मैं भी बच जाऊं। नहीं तो आज तुझे छोड़ना नही चाहती हूँ।"

"सच बता, तैंने कमीशन खाया है ?"

"किसका कमीशन ? तेरे किशन कन्हाई का ? हाँ। उसकी आँखों में खोज और भटकन देखी तो भागी आई हूँ तेरे पास। अरी, मेरे कमीशन को ही पकाने के खातिर एक बार पिघल आ। नहीं तो जानती है क्या

होगा ? होगा यह कि मैं जगह ले लूँगी और मुझे बन्धन नहीं है। पति हैं, और वे इतने प्रेमी हैं कि कुछ पूछना-जानना नहीं चाहते। मेरे लिये वह इतनी सुविधा हैं कि सब कुछ मेरे लिए सम्भव है। और जायज भी हो जाता है। तू फिर पीछे कहे नहीं, इसी से कहती हूं !"

जसु ने एक बार वसु को देखा और जोर से बोली—"झूठ !"

'झूठ' शब्द इतने आकस्मिक और आग्रही भाव से आया कि उसने बात की शृंखला को सहसा ही अस्त-व्यस्त कर दिया। सुन कर वसु ज़रा देर के लिए हक्की-बक्की रह गई। जरा रुक के बोली—"झूठ क्या ?"

"तुझे छुट्टी है, जा। जा के देखले। पर ऐसा हो नहीं सकता।"

"क्या नहीं हो सकता ?"

"नहीं हो सकता !"

"तू सपने में रह रही है, लाड़ो।"

"हाँ, रह रही हूँ !"

"अच्छी बात है, रह। पर तेरे पति की ओर से भी कमीशन मैंने खाया है।"

"क्या कहती है ?"

"उनका पत्र आया है मुझे और उसमें गालियाँ लिखी हैं।"

"ठीक ही लिखा है !"

"गालियों में प्यार है पगली ! उनमें चाह है, अकुलाहट है। तेरे अनुमति की प्रार्थना है। तू इतनी कठोर क्यों होती है, करम-फिरी ?"

"गालियाँ भी कोई रिझाने का ढंग है !"

"अरी ढंग नहीं, दरद है दरद ! उनमें बिथा है। तेरी ओर से अनुमति का तनिक संकेत भर हो कि देखेगी कि गालियाँ इस्तवन बन जाती हैं। और आलोचक प्रार्थी बन जाता है। फिर बता तुझे क्या कहना है। बता उत्तर में मैं क्या लिख दूँ। आशा की कुछ झलक दूँ ?"

जसु हंसी ! बोली—"तू मानती नहीं है कि वह संत-महात्मा हैं ?"

"नहीं !"

"तो तुझे कुछ नहीं मालूम। वे उपदेश देते हैं। जी से चाहते हैं, मुंह से उपदेश देते हैं ! संयम का उपदेश ! अपने और मेरे बीच 'सत्यार्थ-प्रकाश' रखते हैं। सत्य के अर्थ के प्रकाश को सामने पाती हूँ, तो जानती नहीं कि मैं उसे कैसे उलाघूं और उन तक कैसे पहुंचूं ? फिर जब एका-एक उनका बढ़ा हुआ हाथ मेरी तरफ आता है तो मैं किसी तरह नहीं समझ पाती हूं कि यह किस सत्य के अर्थ का प्रकाश है, खोई रह जाती हूँ। तो क्या तू कहेगी कि यह मेरी भूल है ? छः बच्चों की मैं माँ बन गई,—कैसे बन गई, अब यही अचरज होता है। मालूम होता है कि रात के अंधेरे के छः घण्टे थे, तो बाकी अठारह सत्यार्थ के प्रकाश के थे। और इन दोनों के बीच में कहीं कोई सामान्य भूमिका न थी। उपदेशक और कामुक के अतिरिक्त मैंने उन्हें किसी और अवस्था में नहीं देखा। और मालूम होता है कि आँख खोलकर किसी तरह और कुछ नहीं हो सकता—उनको उपदेशक ही मानना और देखना होता है। अंधेरे में कुछ भले हो जाय, प्रकाश में उस सबको भूले ही नहीं, बल्कि इन्कार करते रहना भी जरूरी होता है। यानी शरीर का सब कुछ व्यभिचार है, मानो दिन भर उनका बचन-ब्यौहार यही कहता रहता है ! तब बता मैं क्या करूँ ?"

"जो कह रही है, तू समझ रही है ?"

"तू बता क्या समझूं ?"

"अरे, तू उस आदमी को ले जो जी से चाहता है। उस पर क्यों अटकती है जो मुंह से ज्ञान बघारता है !"

"अटकूं नहीं ?"

"नहीं।"

"तुझे मालूम नहीं है। मैंने संगीत सीखा था, चित्रकला सीखी थी, स्कूल में अभिनय में भाग लेती थी। जाने क्या-क्या मुझमें भरा था।···विवाह हुआ और प्रातः सायं लगोट बाँधकर वह दो-दो घंटे संध्या करते थे।

मैं देखती थी और उनके सिर पर की ऊर्ध्वमुखीन शिखाग्रन्थी पर मेरा ध्यान जम जाता था। ओह, क्या अपूर्व दृश्य होता था! ऊपर न सही, मन में मेरे दुलहिन के सोलह शृंगार रहते थे और दुलहा ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बनने की साधना में लीन थे। क्या है स्त्री, क्या है अर्थ, क्या है व्यवसाय? सब माया का प्रपंच है। वकालत मिथ्याचार है। आर्य भारत को पुनरुज्जीवित करना होगा, वही एक करणीय कर्म है। और शेष जगज्जाल जंजाल है।...इस प्रकार बच्चे घर में आते गये। ऊपर सन्ध्या-साधना चलती गई और नीचे धन-अर्थ की धरती सूखती गई। बार रूम में वकील साथियों को गहरा तत्वज्ञान मिलता, चारित्रिक उपदेश मिलते; और उपदेशक महोदय को मुकदमे बिल्कुल न मिलते। दिल्ली का खर्च और ऊपर की मान-प्रतिष्ठा। इसमें बजट बिगड़ता गया और मेरे पिता की पूँजी छीजती गई। जितना इन्हें लगता कि यह उनका परिवार श्वसुर के आश्रित हैं, उतनी ही आध्यात्मिकता उनमें तीव्र होती जाती। धन-सम्पत्ति क्या है? मिट्टी है। मूढ़ हैं जो उसी के मेरे-तेरे में रहते हैं! कौन क्या साथ लाया है, क्या साथ ले जायेगा? ऐसे घर बच्चों से भरता गया और उनको ऊँची से ऊँची शिक्षाएँ दी जाती रहा और पैसा बाप के पास से आता रहा। और इस सबके ऊपर और इस सबके नीचे आध्यात्मिकता रहती और निबिड़ से निबिड़तर होती गई! ...बस, तू मुझसे ज्यादा कहला मत। मेरा रोम रोम जलता है। कैसे बच्चे पल रहे हैं, मैं जानती हूँ। कैसे गिन-गिनकर मेरे दिन बीते हैं, मैं जानती हूं। कैसे मैंने तन जुटाए रक्खा है, मैं जानती हूं। मैं जानती हूँ अध्यात्म की महिमा। मैं जानती हूँ वे सब ऊँचे-ऊँचे उपदेश जो हवा में रह सकते हैं और वहीं खिलकर देदीप्यमान रह सकते हैं। रोना तो यह है कि वह अध्यात्म भारी ईमानदारी का था, और ज़रा भी दुकानदारी का न था। अरे, मैंने ही सन्तों महन्तों का आश्रय लिया है, जिनकी विभूति-वैभव का ठिकाना न था। वह भी एक कौशल है। योग का क्या हमारी गीता ने ही कर्म-कौशल नहीं कहा है? लेकिन यह छोड़ और मुझसे अब कभी भी वह बात न कीजिओ। वह बस अपने-आपके हैं,

और मज़े से रहें। उन्हें न मेरी फिक्र होगी, न बच्चों की। मैं ही यह फिक्र उन्हे न होने दूंगी। वह इन्द्रिय-जय में विश्वास करते हैं, तो अच्छा तो है। कामवेग यदि उन्हें कभी कष्ट देता हो तो बाज़ार है, या स्त्रियों की दुनिया में कमी नहीं है। उस सबकी उन्हें छूट है। मैं सत्तर रुपये पाती हूं और उसमें चला ले जाऊँगी। भगवान ने यही चाहा तो यही होगा। पर वह जानते हैं कि मैं आदर्श नहीं हूं और वह आदर्श की ओर गति करना चाहते हैं। तो मेरी ओर वह किसी तरह की चाहत में बढ़ें, इसमें मैं ही कैसे सहायक हो सकती हूं? अब तू समझी मेरी रानी बकवासिनी?"

बसु ने अचरज से अपनी इस माननीया सहेली को देखा। अब उसने समझा कि क्यों हीन से हीन परिस्थिति में जीती हुई भी उसके मन में इस यशोदा के लिए किसी भांति आदर कम नहीं हो सकता था। उसने कहा—"उन्हे सज़ा देती रही हो? अब भी देना चाहती हो?'

"वह सिद्धान्त में रहना चाहते हैं। क्या इसकी उन्हें सुविधा न होने दी जाए?"

"तुम कठोर होती हो, जसु!"

"हाँ, कठोर होती हूं। सिद्धान्त कुछ और हो नहीं सकता!"

"जसु!"

"मैंने उनसे यही सीखा है। सिद्धान्त की नफरत सीखी है। सीखा है कि वह सूखा काठ होता है!"

"जसु?"

"क्यों, इसमें डर की क्या बात है?"

"डर नहीं, लेकिन तुम इतनी अडिग रही हो। जीवन भर तनिक भी व्यतिरेक नहीं आने दिया है। समझौता नहीं किया है। जीवन में हरियाले क्षणों को आने का मौका नहीं दिया है। यह क्यों? क्या तुमने भी जय की ठानी है? लगता है, तुम भी ऊर्ध्वरेता बनने की धुन में हो!"

"नहीं, वसु ! वह कुछ नहीं है। पैसा कठिन चीज़ है। वह थोड़ा-थोड़ा बनता है, तब कठिनाई में से ही बनता है। वह कला मेरे बस की न हुई कि जिसमें पैसा बढ़ता और फिसलता हुआ अतिशयता से बहा चला आता है। तुम कहती हो, शुरू से ही लोग कहते आये हैं, कि मुझमें वह सब रहा है जिससे टकसाल खुल सकती थी। मैंने भी अनुभव किया है। लेकिन नहीं, नहीं हो सका। यह नहीं हो सकता था। क्यों नहीं हो सकता था ? क्योंकि बच्चे थे। और···और वह मूरत थी जिसकी आँखें मुझे इधर-उधर नहीं जाने दे सकती थीं। पति के सिद्धान्त मानो ठेल-ठेलकर मुझे उधर ही भेजना चाहते थे। वही सिद्धान्त कि जिनके आधार में से पैसा उड़ गया था, आमदनी सिफर हो गई थी और कर्ज सिर तक चढ़ गया था। यह सब परिस्थिति मेरे लिए सहायक हो सकती थी। और मेरा संगीत और मेरा नृत्य और मेरा अभिनय और मेरा रूप और मेरा सब कुछ। यह कुछ कम पूँजी न थी। वह दुकान चलती कि क्या किसी की चली होगी ! लेकिन पति की ओर से कितनी भी प्रेरणा मिली, मैं उन आँखों की वजह से किसी तरह उस राह न जा सकी। और फिर बच्चे थे और फिर देखती हो कि सत्तर रुपये में मैं निभे चली जा रही हूं। अब तुझे सौगंध है कि तुम न कभी पति की बात करोगी, न उस चेहरे की बात करोगी जो मेरे सारे कष्टों का कारण रहा। उसका प्यार न होता तो मैं तनिक से ही कष्ट से कभी की डिग चुकी होती और अब तक बड़े आराम से होती। जिससे आराम पास फटक भी नहीं सका और कष्ट को सम्पूर्ण सार्थक भाव से अपनाये चली आई हूं—उस चेहरे को मैं किसी तरह सामने नहीं पाना चाहती !"

···ऐसे जाने कब तक सहेलियों में बातें चलती रहीं कि आखिर नींद आई और वे गाढ़ी नींद में पहुँच गईं।

शायद चार का समय होगा। बाहर दरवाजे पर आहट हुई। कुछ देर आहट होती चली गई। तब वसु ने जसु को हिलाकर जगाया। बत्ती वह रोशन कर चुकी थी और जसु के जगने पर उसने एक उँगली ओठों के

आगे रखकर संकेत किया कि देख, चुप। फिर उन्हीं अधूरे वस्त्रों में वह बाहर जाने को हुई।

जसु ने फुसफुसा कर कहा—"क्या है ?"

"वह है।"

"कोन ?"

"वही।"

"तू कहां जा रही हैं ? ':

"कह दीजो, यहां कोई नहीं है। तू नहीं जानती।"

तू बाहर क्यों रहेगी इस जाड़े पाले में? "

"तुझे कुछ पता नहीं है। अच्छा देख, किवाड़ बन्द कर ले यह और एक मिनट बाद वह खोलना।"

"घबराती क्यों हैं, वही तो हैं ! "

'तुझे कुछ पता नहीं है। समझ गई न ?"

किवाड़ खोलकर बसु उन्हीं अधूरे कपड़ों में बाहर पहुँच गयी और खुले बाथरूम में छिप गई। जसु ने यह दरवाजा बन्द किया, वह खोला जिसको लगातार थपथपाया जा रहा था। खुलते ही वंशीधर जी दिखाई दिये। बंद गले का कोट, गूलुबंद से कान ढंके, खूद रुई के पाजामे और चादर में ढंके हुए।

"ओह, आप ? इस समय कैसे ?"

"वह कहां हैं ?"

"कौन ? बसू ?"

"यहां नही आई ?"

"क्यों, घर पर नहीं हैं ?"

"नहीं, नहीं। ग्यारह बजे से ढूंढ़ रहा हूँ। एक ड्रामा होनेवाला था, ताल कटोरा में। ड्रेस रिहर्सल था, वहां उनको होना था। गई भी थीं। मालूम हुआ, साढ़े दस के लगभग वहां से चली आई। तभी से ढूंढ़ रहा हूँ।

"आइए, बैठिए । हो सकता है, इस बीच घर पहुँच गई हो । घर छोड़कर कहाँ जाएंगी ?"

"आप कहतीं है, यहाँ नहीं आई ?"

"यही तो कमरा है । और ये बराबर रसोई रही, आप ही देख लीजिये ।

"यह ठीक नहीं है ।"

"बैठिए बैठिये । वक्त क्या है ?"

"चार हो गया है । यह ठीक नहीं है ।" सामने की नई कुर्सी पर बैठते हुए कहा "बिलकुल ठीक नहीं है । आप उन्हें समझाती क्यों नहीं हैं ? इस उम्र तक अकल आ जानी चाहिए ।"

"आप नाराज हो रहे हैं और क्या मालुम उन पर क्या बीती हो ! गाड़ी उनके साथ थी ?"

"यही तो बात है कि नहीं, घर की गाड़ी मेरे साथ है । दफतर की गाड़ी में गई और उसी में आनेवाली थी । लेकिन आप ठीक कहती हैं कि जाने क्या बीती हो !"

यह कहकर देखते देखते वंशीधर जी विह्वल हो आये । बोले—क्या बीत सकती है । एक्सीड़ेट हुआ होगा ?

"हां हो भी सकता है । आप गाड़ी साथ लाये हैं ?"

"जी हां, जी हाँ । अब मुझे क्या करना चाहिये ? पूलिस में जाया जाए या—"

"जी नहीं । अच्छा होगा सवेरे तक आप इन्तजार देखें । आखिर आफीसर हैं, कोई जरूरी काम लग गया होगा ।"

"तो आप की सलाह है घर जाऊँ ।"

"अवश्य । वहाँ बच्चे अकेले होंगे ।"

"तो अच्छा । कष्ट के लिए क्षमा कीजियेगा ।"

कहकर वंशीधर जी उठे । वह चारों तरफ़ कमरे में घूमे, फिर रसोई में जाकर देखा और अन्त में अन्दर का दरवाजा खोलकर बाहर सहन की

ग्रौर जाने को हुए। जसु घबरायी, बोली, "बाहर तो छत है, ग्रौर खुली है। ग्राप को सर्दी लगेगी, यहीं से देख लीजिए।"

वंशीधर जी फ़िर भी बाहर गये। एक बार चारों ग्रौर देखा ग्रौर निराश वापिस ग्राकर दरवाजा वन्द कर लिया। उसके वाद माफी मांगते हुए वह बाहर का दरवाजा खोल जीने से उतरते हुए नीचे चले गए।

जूतों की ग्रावाज ग्रोझल हो गयी तो जसु ने दरवाजा खोला ग्रौर बाथरूम के दरवाजे पर थपकी देकर कहा—कुलच्छनी निकल, संकट टल गया है। कुलच्छनी हंसती हुई निकल कर ग्राई ग्रौर जसु को उसने ग्रालिंगन में लेकर चूम लिया। कहा—चल। ग्रब नौ बजे तक तेरे साथ बिस्तर में सोना ही सोना है।"

"कैसी पगली है! घर क्यों नहीं जाती?"

बोली—"ग्राज तो भर नींद सो लू। जागना तो रोज़ का है! क्या यह भी ग्रादमी है! सच बता, मुझसे ग्राधा है कि नहीं?"

"चल, जीभ तेरी बड़ी है। नहीं तो…"

ग्रौर धक्का देती हुई जसु उसे भीतर ले गई ग्रौर रजाई में दुबका लिया!

●

सितम्बर' १९६०